तीसरा सप्तक

सम्पादक
अज्ञेय

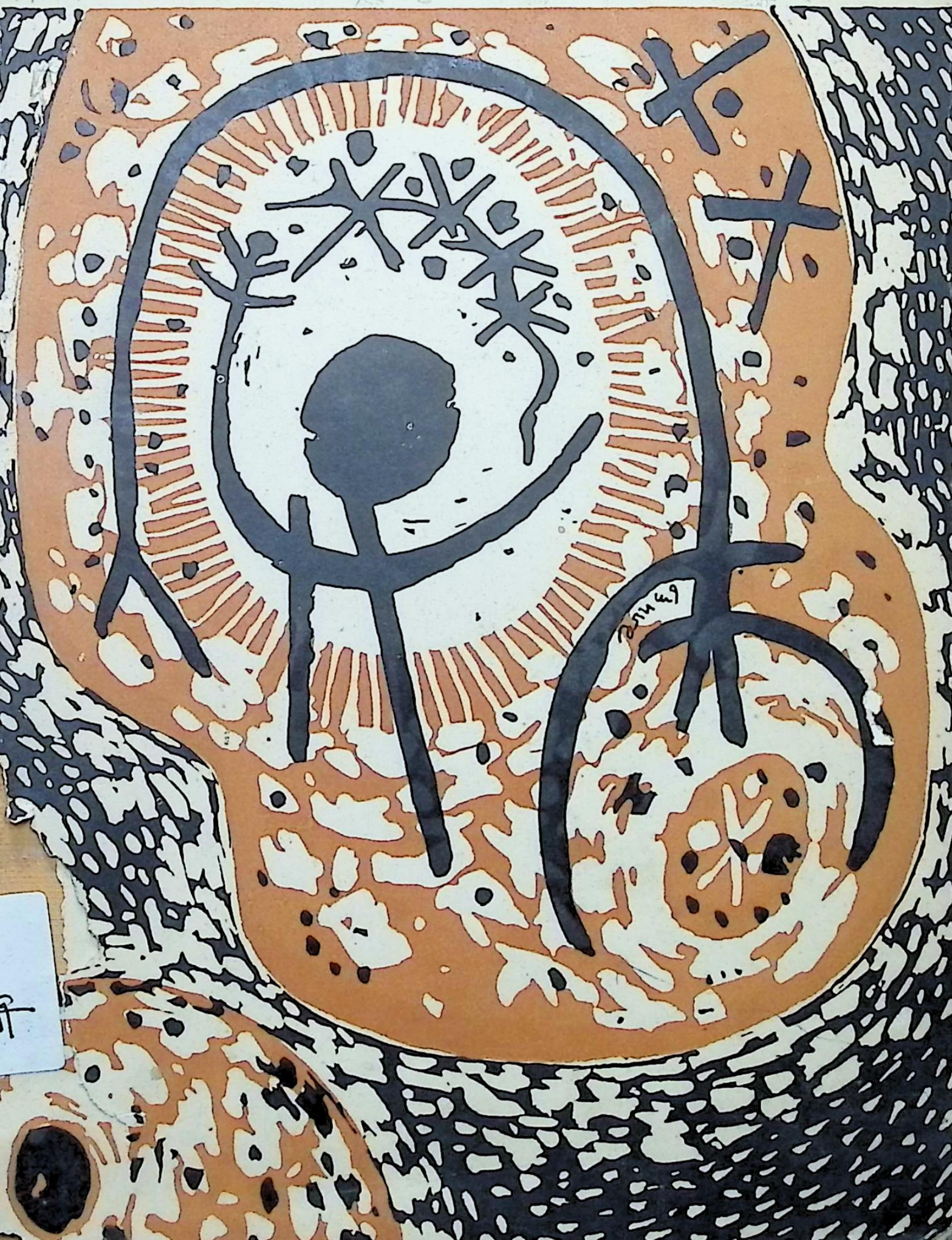

जैसा कि एक विकासमान काव्य-परम्परा में उचित ही था, कविता-सप्तकों के अनुक्रम में यह तीसरा सप्तक पहले दोनों से आगे बढ़ा हुआ है। यह, या कोई भी 'सप्तक' अपने युग के सर्वोत्तम सात कवियों का संकलन है, ऐसा कोई दावा नहीं है। पर जिस युग में कविता का प्रकाशन क्रमशः कठिनतर होता जा रहा है और नयी कवि-प्रतिभाओं को मार्ग-बाधा विकटतर (चाहे इस लिए ही कि जिन में प्रतिभा नहीं हैं उन्हें भी सामने आने और क्षितिज पर छा जाने की पहले अधिक सुविधाएँ मिल गयी हैं !), उस में उत्सुक पाठक-वर्ग के सामने एक साथ इतने विशिष्ट कवियों का कृतित्व प्रस्तुत करने का काम केवल 'सप्तक' ही करते रहे हैं। और संकलन न केवल उन का प्रतिनिधित्व करते हैं वरन् अपने युग का भी।

आधुनिक काल में किसी भी कला की साधना साहस-कर्म है। काव्य-रचना में तो यह साहस निहित है ही, क्योंकि आज वह एक वैचारिक साहसिकता भी

[शेष दूसरे फ्लैप पर]

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी-५

'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित

तीसरा सप्तक

डा. डिल्ली ...
... स्मारक
पुस्तकालय
3358

८५९८३१
डा॰ डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रकाशित

- **तार सप्तक**

  [गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय']

  १९४३

  नया संवर्धित संस्करण : १९६६

- **दूसरा सप्तक**

  [भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती]

  १९५१

  नया संस्करण : यन्त्रस्थ

- **तीसरा सप्तक**

  [प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवरनारायण, विजयदेवनारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना]

  १९५९

  दूसरा संस्करण : १९६१, तीसरा संस्करण : १९६७

भूमिका

तार सप्तक की भूमिका प्रस्तुत करते समय इन पंक्तियों के लेखक में जो उत्साह था, उस में संवेदना की तीव्रता के साथ निस्सन्देह अनुभव-हीनता का साहस भी रहा होगा। संवेदना की तीव्रता अब कम हो गयी है, ऐसा हम नहीं मानना चाहते; किन्तु इस में सन्देह नहीं कि अनुभव ने नये कवियों का संकलन प्रस्तुत करते समय दुविधा में पड़ना सिखा दिया है। यह नहीं कि **तीसरा सप्तक** के कवियों की संगृहीत रचनाओं के बारे में हम उस से कम आश्वस्त, या उन की सम्भावनाओं के बारे में कम आशामय हैं जितना उस समय **तार सप्तक** के कवियों के बारे में थे। बल्कि एक सीमा तक इस से उलटा ही सच होगा। हम समझते हैं कि **तीसरा सप्तक** के कवि अपने-अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में ही पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। भविष्य में इन में-से कौन कितना और आगे बढ़ेगा, यह या तो ज्योतिषियों का क्षेत्र है या स्वयं उन के अध्यवसाय का। **तीसरा सप्तक** के कवि भी एक ही मंज़िल तक पहुँचे हों, या एक ही दिशा में चले हों, या अपनी अलग दिशा में भी एक-सी गति से चले हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। निस्सन्देह **तार सप्तक** में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संगृहीत कवि सब अपनी-अपनी अलग राह का अन्वेषण कर रहे हैं।

दुविधा और संकोच का कारण दूसरा है। **तार सप्तक** के कवि अपनी रचना के ही प्रारम्भिक युग में नहीं, एक नयी प्रवृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में सामने आये थे। पाठक के सम्मुख उन के कृतित्व की माप-खोज करने के लिए कोई बने-बनाये मापदण्ड नहीं थे। उन की तुलना भी पूर्ववर्ती या समवर्ती दिग्गजों से नहीं की जा सकती थी—क्योंकि तुलना के कोई आधार ही अभी नहीं बने थे। इसलिए जहाँ उन की स्थिति झारखण्ड की झाड़ी पर

अप्रत्याशित फूले हुए वन-कुसुम की-सी अकेली थी, वहाँ उन्हें यह भी सुविधा थी कि उन के यत्किंचित् अवदान की माप झारखण्ड के ही सन्दर्भ में हो सकती थी—दूर के उद्यानों से कोई प्रयोजन नहीं था।

अब वह परिस्थिति नहीं है। 'द्विवेदी काल' के श्री मैथिलीशरण गुप्त या छायावादी युग के श्री 'निराला' जैसा कोई शलाका-पुरुष नयी कविता ने नहीं दिया है (न उसे अभी इतना समय ही मिला है); फिर भी तुलना के लिए और नहीं तो पहले दोनों सप्तकों के कवि तो हैं ही, और परम्पराओं की कुछ लीकें भी बन गयी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्राह्य हो गयी है, सम्पादक-गण (चाहे आतंकित हो कर ही !) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उस की अपनी भी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उस की आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने भी उस के अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है—चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बना कर ही।

और कृतिकारों का अनुधावन करने वाली, स्वल्प पूँजी वाली 'प्रतिभाएँ' भी अनेक हो गयी हैं।

कहना न होगा कि इन सब कारणों से 'नयी कविता' का अपने पाठक के और स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मान कर भी कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूतिपूर्ण तो क्या, पूर्वग्रह-रहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं उस के आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उस का परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक दूसरे के आलोचक बन कर सामने आवें।

पूर्वग्रह से मुक्त होना हर समय कठिन है। फिर अपने ही समय की उस प्रवृत्ति के विषय में, जिस से आलोचक स्वयं सम्बद्ध है, तटस्थ होना और भी कठिन है। फिर जब समीक्षक एक ओर यह भी अनुभव करे कि वह प्रवृत्ति विरोधी वातावरण से घिरी हुई है और सहानुभूति ही नहीं, समर्थन और वकालत भी माँगती है, तब उस की कठिनाई की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन फिर भी नयी कविता अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, और समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना चाहती है, तो उसे स्वयं आगे बढ़ कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ

वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी !)

तीसरा सप्तक के सम्पादन की कठिनाई के मूल में यही परिस्थिति है। **तार सप्तक** एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इस से अधिक विशेष कुछ नहीं। **तीसरा सप्तक** तक पहुँचते न पहुँचते प्रवृत्ति की पैरवी अनावश्यक हो गयी है, और कवियों की पैरवी का तो सवाल ही क्या है ? इस बात का अधिक महत्त्व हो गया है कि संकलित रचनाओं का मूल्यांकन सम्पादक स्वयं न भी करे तो कम-से-कम पाठक की इस में सहायता अवश्य करे।

नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। निस्सन्देह जिसे अब 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है वह भाषा-सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है—बल्कि ऐसा करने को अनुचित भी मानती रही है। यह मार्ग 'प्रपद्यवादी' ने अपनाया जिसने घोषणा की कि 'चीज़ों का एक मात्र सही नाम होता है' और वह (प्रपद्यवादी कवि) 'प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।'

'नयी कविता' के कवि को इतना मानने में कोई कठिनाई न होती कि कोई शब्द किसी दूसरे शब्दका सम्पूर्ण पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अलावा अलग-अलग लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ होती हैं—अलग संस्कार और ध्वनियाँ। किन्तु 'प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है', इस कथन को उस सीमा तक ले जाया जा सकता है जहाँ कि भाषा का एक नया रहस्यवाद जन्म ले ले और अल्लाह के निन्यानबे नामों से परे उस के अनिर्वचनीय सौवें नाम की तरह हम प्रत्येक वस्तु के सौंवे नाम की खोज में डूब जावें। भाषा-सम्बन्धी यह निन्यानबे का फेर प्रेषणीयता का और इस लिए भाषा का ही बहुत बड़ा शत्रु हो सकता है। शब्द अपने-आप में सम्पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है; किसी शब्द का कोई स्वयम्भूत अर्थ नहीं है। अर्थ उसे दिया गया है, वह संकेत है जिस में अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है। 'एकमात्र उपयुक्त शब्द' की खोज करते समय हमें शब्दों की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी : वह 'एकमात्र' इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण को स्पष्ट, सम्यक् और निर्भ्रम बनाने के लिए)

नियत कर दिया है कि शब्द-रूपी अमुक एक संकेतका एकमात्र अभिप्रेत क्या होगा।

यहाँ यह मान लें कि शब्द के प्रति यह नयी, और कह लीजिए मानववादी दृष्टि है; क्योंकि जो व्यक्ति शब्द का व्यवहार कर के शब्द से यह प्रार्थना कर सकता था कि 'अनजाने उस में बसे देवता के प्रति कोई अपराध हो गया हो तो देवता क्षमा करे' वह इस निरूपण को स्वीकार नहीं कर सकता—नहीं मान सकता कि शब्द में बसने वाला देवता कोई दूसरा नहीं है, स्वयं मानव ही है जिसने उस का अर्थ निश्चित किया है। यह ठीक है कि शब्द को जो संस्कार इतिहास की गति में मिल गये हैं उन्हें 'मानव के दिये हुए' कहना इस अर्थ में सही नहीं है कि उन में मानव का संकल्प नहीं था—फिर भी वे मानव-द्वारा व्यवहार के प्रसंग में ही शब्द को मिले हैं और मानव से अलग अस्तित्व नहीं रख या पा सकते थे।

किन्तु 'एकमात्र सही नाम' वाली स्थापना को इस तरह मर्यादित करने का यह अर्थ नहीं है कि किसी भी शब्द का सर्वत्र, सर्वदा सभी के द्वारा ठीक एक ही रूप में व्यवहार होता है—बल्कि यह तो तभी होता जब कि वास्तव में 'एक चीज़ का एक ही नाम' होता और एक नाम की एक ही चीज़ होती! **प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है।** इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है—यही उस का कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।

नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो। और जिन्होंने उसे नया कुछ देने के आग्रह में पुराना बिलकुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान ही हो गये हैं! कृतित्व का क्षेत्र इन दोनों सीमा-रेखाओं के बीच में है। यह ठीक है कि बीच का क्षेत्र बहुत बड़ा है, और उस में कोई इस छोर के निकट हो सकता है तो कोई उस छोर के। दुरूहता अपने-आप में कोई दोष नहीं है, न अपने-आप में इष्ट है। इस विषय को ले कर झगड़ा

करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुँह छोटा है या बड़ा, यह न देखना कि उस में पानी भी है या नहीं।

प्रयोक्ता के सम्मुख दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है। यह बात कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कण्टेण्ट) अलग-अलग चीज़ें हैं; पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है ! यह बिलकुल सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उस की पुरानी ही रहे; जैसे यह भी सम्भव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो··· निस्सन्देह देश-काल की संक्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति बहुत कुछ नया देखे-सुने और अनुभव करेगा; और इस लिए विषय के नये-पन के विचार का भी अपना स्थान है ही; पर विषय केवल 'नये' हो सकते हैं, 'मौलिक' नहीं—**मौलिकता वस्तु से ही सम्बन्ध रखती है।** विषय सम्प्रेष्य नहीं है, वस्तु सम्प्रेष्य है। नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उस से उपपन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं, और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी, और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कवि-मानस की पहुँच और उस के सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँतक कवि नयी परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिस के द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रह कर उसे वश कर के, उसी के सहारे उस से ऊपर उठ कर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसी से हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। [और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टेकनीक) के उपयोग की पड़ताल कर के यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाय !]

यहाँ स्वीकार किया जाय कि नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है, और इस प्रकार स्वयं भी पथभ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में नयी कविता के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।

लेकिन 'नक़लचियों से सावधान !' की चेतावनी असली माल वाले प्रायः नहीं देते; या तो वे देते हैं जिन्हें स्वयं अपने माल की असलियत के बारे में कुछ खटका हो, या फिर वे दे सकते हैं जो स्वयं माल ले कर उपस्थित नहीं हैं और केवल पहरा दे रहे हैं। अर्थात् कवि स्वयं चेतावनी नहीं देते; यह काम आलोचकों, अध्यापकों और सम्पादकोंका है। यह भी उन्हीं का काम है कि नक़ली के प्रति सावधान करते हुए असली की साख भी न बिगड़ने दें—ऐसा न हो कि नक़ली से धोखा खाने के डर से सारा कारोबार ही ठप हो जाय !

इस वर्ग ने यह काम नहीं किया है, यह सखेद स्वीकार करना होगा। बल्कि कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि नक़लची कवियों से कहीं अधिक संख्या और अनुपात नक़ली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि कसौटियाँ ही झूठी हैं ! इतनी अधिक छोटी-मोटी 'एमेच्योर' (और इम्मेच्योर) साहित्य-पत्रिकाओं का निकलना, जब कि जो दो-चार सम्मान्य पत्रिकाएँ हैं वे सामग्री की कमी से क्षयग्रस्त हो रही हैं, इसी बात का लक्षण है कि यह वर्ग अपने कर्त्तव्य से कितना च्युत हुआ है। यह ठीक है कि ऐसे छोटे-छोटे प्रयास एक आस्था की घोषणा करते हैं और इस प्रकार एक शक्ति (चाहे कितनी स्वल्प) के लक्षण हैं, पर यह भी उतना ही सच है कि इस प्रकार व्यापक, पुष्ट और दृढ़ आधार वाले मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा का काम क्रमशः कठिनतर होता जाता है।

पर नक़लची हर प्रवृत्ति के रहे हैं, और जिन का भण्डाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ उन्हें पहचानने में फिर समय की दूरी अपेक्षित हुई है। अधिक दूर न जावें तो न तो 'द्विवेदी युग' में नक़लचियों की कमी रही, न छायावाद युग में। और न ही (यदि इसी सन्दर्भ में उन का उल्लेख भी उचित हो जिन की उपलब्धि भी 'प्रयोगवादी सम्प्रदाय' से विशेष अधिक नहीं रही जान पड़ती) प्रगतिवादने कम नक़लची पैदा किये। हमें किसी भी वर्ग में उन का समर्थन या पक्ष-पोषण नहीं करना है—पर यह माँग भी करनी है कि उन के अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो, असली को नक़ली से न मापा जाय।

शिल्प, तन्त्र या टेकनीक के बारे में भी दो शब्द कहना आवश्यक है।

इन नामों की इतनी चर्चा पहले नहीं होती थी। पर वह इसी लिए कि इन्हें एक स्थान दे दिया गया था जिसके बारे में बहस नहीं हो सकती थी। यों 'साधना' की चर्चा होती थी, और साधना अभ्यास और मार्जन का ही दूसरा नाम था। बड़ा कवि 'वाक्सिद्ध' होता था, और भी बड़ा कवि 'रससिद्ध' होता था। आज 'वाक्शिल्पी' कहलाना अधिक गौरव की बात समझा जा सकता है—क्योंकि शिल्प आज विवाद का विषय है। यह चर्चा उत्तर छायावाद काल से ही अधिक बढ़ी, जब कि प्रगति के सम्प्रदाय ने शिल्प, रूप, तन्त्र, आदि सब को गौण कह कर एक ओर ठेल दिया, और 'शिल्पी' एक प्रकार की गाली समझा जाने लगा। इसी वर्ग ने नयी काव्य-प्रवृत्ति को यह कह कर उड़ा देना चाहा है कि वह केवल शिल्प का, रूप-विधान का आन्दोलन है, निरा फ़ार्मेलिज़्म है। पर साथ-साथ उसने यह भी पाया है कि शिल्प इतना नगण्य नहीं है; कि वस्तु से रूपाकार को बिलकुल अलग किया ही नहीं जा सकता; कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है; और इसी अनुभव के कारण धीरे-धीरे वह भी मानो पिछवाड़े से आ कर शिल्पाग्रही वर्ग में आ मिला है। बल्कि अब यह भी कहा जाने लगा है कि 'प्रयोगवाद के जो विशिष्ट गुण बताये जाते थे (जैसा बताने वाले वे ही थे!) उन का प्रयोगवाद ने ठेका नहीं लिया है—प्रगतिवादी कवियों में भी वे पाये जाते हैं।' इस से उलझी परिस्थिति और भ्रामक हो गयी है। वास्तव में नयी कविता ने कभी अपने को शिल्प तक सीमित रखना नहीं चाहा, न वैसी सीमा स्वीकार की। उस पर यह आरोप उतना ही निराधार था जितना दूसरी ओर यह दावा कि केवल प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक चेतना है, और कहीं नहीं। यह मानने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए कि प्रगतिवाद सब से अधिक समाजाग्रही रहा है; पर केवल इसी से यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना है या कि जैसी है वही उस का स्वस्थ रूप है—उस की पड़ताल प्रत्येक कवि में अलग करनी ही होगी।

ख़ैर, यहाँ पुराने झगड़ों को उठाना अभीष्ट नहीं है। कहना यह है कि नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषण से काट कर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प दृष्टि उसे मिली है; यह दूसरी बात है कि वह सब में एक-सी गहरी न हो, या सब देखे पथ पर एक-सी सम गति से न चल सके हों। यहाँ फिर मूल्यांकन से पहले यह समझना आवश्यक है

कि वह नयी दृष्टि क्या है, और किधर चलने की प्रेरणा देती है।

संकलित कवियों के विषय में अलग-अलग कुछ कहना कदाचित् उन के और पाठक के बीच में व्यर्थ एक पूर्वग्रह की दीवार खड़ा करना होगा। एक बार फिर इतना ही कहना अलम् होगा कि ये कवि किसी एक सम्प्रदाय के नहीं हैं; न सब की साहित्यिक मान्यताएँ एक हैं, न सामाजिक, न राजनैतिक; न ही उन की जीवन-दृष्टि में ऐसी एकरूपता है। भाषा, छन्द, विषय, सामाजिक प्रवृत्ति, राजनैतिक आग्रह या कर्म की दृष्टि से प्रत्येक की स्थिति या दिशा अलग हो सकती है; कोई इस छोर के निकट पाया जा सकता है, कोई उस छोर के, कोई 'बायें' तो कोई 'दाहिने', कोई 'आगे' तो कोई 'पीछे', कोई सशंक तो कोई साहसिक। यह नहीं कि इन बातों का कोई मूल्य न हो। पर **तीसरा सप्तक** में न तो ऐसा साम्य कलन का आधार बना है, न ऐसा वैषम्य बहिष्कार का। संकलन-कर्त्ता ने पहले भी इस बात को महत्त्व नहीं दिया है कि संकलित कवियों के विचार कहाँतक उस के विचारों से मिलते हैं या विरोधी हैं; न अब वह इसे महत्त्व दे रहा है। क्योंकि उस का आग्रह रहा है कि काव्य के आस्वादन के लिए इस से ऊपर उठ सकना चाहिए और उठना चाहिए। सप्तकों की योजना का यही आधारभूत विश्वास है। प्रयोजनीय यह है कि संकलित कवियों में अपने कवि-कर्म के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व का भाव हो, अपने उद्देश्यों में निष्ठा और उन तक पहुँचने के साधनों के सदुपयोग की लगन हो। जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्य का ही प्रयोग होना चाहिए। यों काव्य में सत्य क्योंकि वस्तुसत्य का रागाश्रित रूप है इस लिए उस में व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश तो है ही, बल्कि व्यक्ति की छाप से युक्त हो कर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है। क्रीड़ा और लीला-भाव भी सत्य हो सकते हैं—जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और संस्कारिता भी। देखना यह होता है कि वह सत्य के साथ खिलवाड़ या 'फ़्लर्टेशन' मात्र न हो।

इन कवियों के एकत्र पाये जाने का आधार यही है। ऐसा दावा नहीं है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उस के यही सर्वोत्कृष्ट या सब से अधिक उल्लेख्य कवि हैं। दो-एक और आमन्त्रित हो कर भी इस लिए रह गये कि वे स्वयं इस में आना नहीं चाहते थे—चाहे इस लिए

कि दूसरे कवियों का साथ उन्हें पसन्द नहीं था, चाहे इस लिए कि सम्पादक का सम्पर्क उन्हें अप्रीतिकर या हेय लगा, चाहे इस लिए कि वे अपने को पहले ही इतना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित मानते थे कि 'नये' कवियों के साथ आने में उन्होंने अपनी हेठी या अपना अहित समझा। एक इस लिए रह गये कि उन की स्वीकृति के बावजूद दो वर्ष के परिश्रम के बाद भी उन की रचनाएँ न प्राप्त हो सकीं। एक-दो इस लिए भी छोड़ दिये गये कि एकाधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुकने के कारण उन का ऐसे संकलन में आना अनावश्यक हो गया था— स्मरण रहे कि मूल योजना यही थी कि सप्तक ऐसे कवियों को सामने लायेंगे जिन के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुए हैं और जो इस प्रकार भी 'नये' हैं। यदि प्रस्तुत संकलन के भी दो-एक कवियों के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तो वह इसी बात का द्योतक है कि **तीसरा सप्तक** की पाण्डुलिपि बनने और उस के प्रकाशन में एक लम्बा अन्तराल रहा है। यों हम तो चाहते हैं कि सभी कवियों के स्वतन्त्र संग्रह छपें— बल्कि सप्तक में उन्हें लाने का कारण ही यह विश्वास है कि उन के अपने-अपने संग्रह छपने चाहिए।

इन शब्दों के साथ हम ओट होते हैं। भूमिका का काम भूमि तैयार करना है; भूमि 'तैयार' वही है जिस पर चलने में उस की ओर से बेखटके हो कर उसे भुला दिया जा सके। पाठक से अनुरोध है कि अब वह आगे बढ़ कर कवियों से साक्षात्कार करे। उपलब्धि वहीं है।

शारदीया,
२०१५

—'अज्ञेय'

दूसरे संस्करण की भूमिका

यह प्रस्तुत **सप्तक** का दूसरा संस्करण है। इस सप्तक के कवि पहले दोनों सप्तकों के कवियों से अधिक भाग्यवान् हैं : केवल इस लिए नहीं कि नयी कविता अब पहले की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हो गयी है या उस का प्रचलन बढ़ गया है—इस लिए भी कि जब तक तीसरे सप्तक के नये संस्करण की आवश्यकता हुई तब तक उस की सम्भावना भी अक्षुण्ण बनी रही! **तार सप्तक** और **दूसरा सप्तक** वर्षों से दुर्लभ हो कर भी अभी दुबारा नहीं छपे हैं इस का कारण उन के कवियों या उन की कविता में न हो कर बाहर है : आगे चाहे इस पर खेद हो, चाहे इस से सान्त्वना ग्रहण की जावे!

तीसरा सप्तक के कवियों में-से अधिसंख्य के स्वतन्त्र संग्रह भी इस बीच छप गये हैं, यह सम्पादक के लिए विशेष परितोष की बात है।

—'अज्ञेय'

तीसरे संस्करण की भूमिका

अब तीनों सप्तक सुलभ हैं, यह सन्तोष की बात है : अगर इस में यह भी निहित है कि इन की कविता अब परम्परा में जुड़ चुकी है तो वह भी सन्तोष की ही बात होनी चाहिए। जिन्हें नयी राह खोजनी या बनानी है, वे अब इतनी और आगे से यात्रारम्भ कर सकते हैं।

—'अज्ञेय'

तीसरा सप्तक

• •

१. प्रयागनारायण त्रिपाठी		१–२८
परिचय	....	२
आत्म-निवेदन	....	३
समाधिस्थ	....	७
संख्या-भ्रम	....	८
यह हाथ	....	८
लक्ष्य	....	९
प्रश्न	....	९
अधूरा गीत	....	१०
यह उद्वेलन	....	११
नदी-तट, साँझ और मेरा प्रश्न	....	१२
अन्तिम दो क्षण	....	१३
नयी बरसात	....	१५
चाहता हूँ	....	१६
विदा के क्षणों में	....	१७
सैलानी	....	१८
समानान्तर लकीरें	....	१९
आशिष	....	२१
प्रभु की खोज	....	२२
आतशी शीशा	....	२३
मृत्युंजय छन्द	....	२३
साँसें	....	२४
एक गीत	....	२५
मकड़ी जाल	....	२६

लक्ष्य-वेध २७
मैं विन्दु २८

२. कीर्ति चौधरी २९–६५

परिचय ... ३०
वक्तव्य ३२
दायित्व-भार ३५
आवाज़ ३७
लता–१ .... ३८
लता–२ .... ३९
लता–३ ... ४०
कार्य-क्रम ४१
अनुभव ४२
केवल एक बात ... ४३
सीमा-रेखा ४३
एकलव्य ४४
देव उवाच ४६
फूल झर गये ४६
प्रस्तुत ४७
अनुपस्थिति ५०
स्वयंचेत ... ५१
दीठ ना मिलाओ ... ५१
बदली का दिन ... ५२
बरसते हैं मेघ झर-झर ... ५३
कम्पनी बाग़ ... ५४
एक साँझ ... ५५
कुहू ... ५६
पंख फैलाये ... ५७
वक़्त ... ५८
जो व्यक्त नहीं कर पाया हूँ ... ५९
तुम्हीं ने बतायी थी ... ६०
सुख ... ६१

प्रतीक्षा ... ६२
कई दिनों बाद ... ६४

३. मदन वात्स्यायन ६७–११०
परिचय ... ६८
वक्तव्य ... ६९
उषा-स्तवन ... ७८
शुक्र तारा ... ८१
सुशिप्रा की वर्षगाँठ पर ... ८२
स्वस्ति, मेरी बेटी ... ८५
दो बिहाग ... ८८
झउआ के फूल ... ८९
असुरपुरी में दस से छह ... ९०
सरकारी कारखाने में कर्मचारी की चिन्ता ... ९८
अपथगा ... १०४
मिथिला में बाढ़ ... १०६

४. केदारनाथ सिंह १११–१४४
परिचय ... ११३
वक्तव्य ... ११४
अनागत ... ११९
पथ ... १२०
नये वर्ष के प्रति ... १२१
स्वरमयी ... १२२
दुपहरिया ... १२३
पूर्वाभास ... १२४
फागुन का गीत ... १२४
वसन्त गीत ... १२५
पात नये आ गये ... १२७
धानों का गीत ... १२७
रात ... १२९
शारद प्रात ... १२९

कुहरा उठा	...	१३१
टूटने दो	...	१३२
शामें बेच दी हैं	...	१३३
नयी ईंट	...	१३४
विदा-गीत	...	१३५
कमरे का दानव	...	१३७
नये दिन के साथ	...	१३८
दीप-दान	...	१३८
दिग्विजय का अश्व	...	१४०
बादल ओ !	...	१४१
निराकार की पुकार	...	१४३
९. कुँवरनारायण		**१४५–१७२**
परिचय	...	१४६
वक्तव्य	...	१४७
ये पंक्तियाँ मेरे निकट	...	१५२
गहरा स्वप्न	...	१५३
दर्पण	...	१५३
खामोशी : हलचल	...	१५४
जाड़ों की एक सुबह	...	१५५
रात चितकबरी	...	१५८
लुढ़क पड़ी छाया	...	१५८
वसन्त की एक लहर	...	१५९
दो बत्तखें	...	१६०
शाहज़ादे की कहानी	...	१६१
गुड़िया	....	१६१
भुतहा घर	...	१६३
शतरंज	...	१६४
साहसी डैने	...	१६५
सम्पाती	...	१६६
टूटा तारा	...	१६७
उतने नहीं	...	१६८

घर रहेंगे ... १६९
हम ... १६९
जो सोता है ... १७०
पगडण्डी ... १७१

६. विजयदेवनारायण साही १७३–२०४

परिचय ... १७४
वक्तव्य ... १७५
मानव-राग ... १७९
दर्द की देवापगा ... १८०
नये शिखरों से ... १८१
हिमालय के आँसू ... १८२
सँग-सँग के गान ... १८३
माघ—१० बजे दिन ... १८४
रात में गाँव ... १८६
खामोश धड़कनें ... १८७
चाँद की चाह ... १८८
बड़ा मुँह, छोटी बात ... १९०
रात-भर का सफ़र ... १९०
ज्वर की गाँठ ... १९०
आज मैंने फिर ... १९१
हम सभी बेच कर आये हैं अपने सपने ... १९१
इस घर का यह सूना आँगन ... १९४
हवा चली ... १९५
ओ रे पन्थ-बाँकुरे ... १९६
खोल दिया पिंजरा ? ... १९७
दोपहर : नदी-स्नान ... १९८
विष-कन्या के नाम ... २०१

७. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना २०५–२३७

परिचय ... २०६
वक्तव्य ... २०७

आज पहली बार ... २१२
नये साल पर ... २१३
सुहागिन का गीत ... २१४
विवशता ... २१५
भोर ... २१६
विगत प्यार ... २१७
मैंने कब कहा ... २१८
यह तो परछाईं है ... २१९
सूखे पीले पत्तों ने कहा ... २२१
चुपाई मारौ दुलहिन ... २२१
सुबह से शाम तक ... २२५
सौन्दर्य-बोध ... २२६
कलाकार और सिपाही ... २२७
रात-भर ... २२८
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ... २२९
प्लेटफ़ॉर्म ... २३०
यों ही बस यों ही ... २३४
काठ की घण्टियाँ ... २३६

■ ■ ■

प्रयागनारायण त्रिपाठी

परिचय

•

[त्रिपाठी, प्रयागनारायण : जन्म रायबरेली के एक गाँव में, सन् १९१९। हाई स्कूल तक शिक्षा इलाहाबाद में, फिर चार वर्ष के व्यवधान के बाद एम० ए० (अँगरेज़ी) तक कानपुर में पायी। व्यवधान काल में साढ़े-तीन वर्ष तक टीकमगढ़ (झाँसी) में सर्वे विभाग में साढ़े-सात रुपये मासिक पर काम किया; फिर वहीं वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् में क्लर्की की। एम० ए० की तैयारी करते हुए पूरे समय, और अनन्तर चार वर्ष तक चौथाई समय, दैनिक 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे। इन चार वर्षों में (१९४६-५०) सनातन धर्म कॉलेज कानपुर में अँगरेज़ी का अध्यापन भी किया। सन् १९५० से भारत सरकार के सूचना मन्त्रालय के हिन्दी विभाग में सम्पादक हैं।

"आरम्भ से ही दो कार्य विशेष रुचिकर रहे हैं : एक, दूर-दूर की यात्रा, विशेषतया पहाड़ों की। (बचपन में एक बार तीन महीने का वज़ीफ़ा एक साथ मिलने पर घर से भाग निकले और हिमालय की तलहटी छू कर ही वापस लौटे।) दूसरे, होड़ बदना। होड़ा-होड़ी में एक बार जेठ की दोपहरी में गंगा की रेती पर नंगे-पाँव दो मील चले; एक अन्य अवसर पर बत्तीस रोटियाँ गटक गये (और हज़म कर गये) ! यों पिछले दस वर्ष से एकाहारी हैं।" तीरन्दाज़ी, तैराकी और पैदल-पर्यटन में भी रुचि रही; तैरने और पैदल चलने का अब भी अच्छा अभ्यास है। पर तीरन्दाज़ी छूट गयी है क्योंकि "तीर सभी खो गये हैं, और कमान टूट चुकी है।"

रामायण, गीता, उपनिषदादि पर 'धुआँधार' भाषण दे सकते हैं। रामायण के अनेक पारायण कर चुके हैं। स्मरण-शक्ति "ख़राब है—मित्रों के नाम तक याद नहीं रहते"—पर अपनी सब कविताएँ कण्ठस्थ हैं।]

■

आत्म-निवेदन

अपनी कविताओं के विषय में कुछ कह सकना, कम से कम मेरे लिए, आसान नहीं। इस का मुख्य कारण यह है कि मैं अपनी कृतियों को अभी कविताएँ नहीं मानता : अभ्यास ही मानता हूँ। उन में अनुभूति और चिन्तन की सच्चाई तो है, पर अभिव्यक्ति की वह पूर्णता नहीं है जो मुझे सन्तोष दे सके। आप को दे सके, तो इसे अपनी सफलता नहीं बल्कि आप की उदारता मानूँगा।

इस से एक बात और स्पष्ट हो जाती है। कविता के क्षेत्र में मैं एक अन्वेषी ही हूँ। इस अन्वेषण की यात्रा का एक लम्बा इतिहास है। १३ वर्ष की आयु में मैंने पहली कविता लिखी थी जिस की अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार थीं :

करता गान कला का जिस की भारत-भू का प्रति आवास,
भारत-हृदय, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी श्रीतुलसीदास।

रूढ़ि और परम्परा के वातावरण में, राम-भक्त वैष्णव परिवार में जन्म ले कर और पल कर मैं और कुछ लिख ही कैसे सकता था? काव्य-विषयक मेरे आरम्भिक विचार रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, कविता-वली, गीतावली और ब्रज-माधुरी-सार के निरन्तर अध्ययन से बने। फिर 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, 'निराला', पन्त, 'प्रसाद,' महादेवी वर्मा को पढ़ा। माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन', 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा और 'अज्ञेय'—ये सभी मुझे समय-समय पर प्रिय लगे हैं। सन् १९५० तक मैंने जो कुछ लिखा (मेरे विषय में मेरे कृपालु मित्र यह सोचते रहे हैं कि मैं जब भी कलम उठाता हूँ तो 'धुआँधार' लिखता हूँ, पर मैंने अब तक बहुत कम लिखा है, और, जैसा कि ऊपर निवेदन कर चुका हूँ, सन्तोषप्रद तो कुछ भी नहीं लिखा) वह इन्हीं अग्रजों की देन है, ऐसा मानता हूँ और सभी के प्रति कृतज्ञता-पूर्वक प्रणत हूँ।

परन्तु १९५० से १९५४ के आरम्भ तक मैं कविता की एक पंक्ति

भी नहीं लिख सका। इस का भी कारण था मेरे मन का वही असन्तोष जिस की चर्चा मैं ने आरम्भ में की है। मुझे ऐसा लगा कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ उस का कथ्य तो मेरा है पर अभिव्यक्ति मेरी नहीं है : परायी है। मुझे लगा कि जिस माध्यम से, अर्थात् 'छन्द के बन्ध, प्रास के रजत-पाश' के द्वारा मैं अपने अनुभूत को कहना चाह रहा हूँ, कह नहीं पा रहा हूँ। मैं ने उस वैयक्तिक संक्रान्ति-काल में अपने-आप से कई बार प्रश्न किया था, "कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम छन्द, तुक और अलंकार की सिद्धि के श्रम से भयभीत हो कर परम्परा से पीछा छुड़ाना चाहते हो?" पर हर बार मुझे अपने भीतर से उत्तर मिला, "नहीं, नहीं, नहीं!" गुरुजनों ने मुझे कई बार सत्परामर्श दिया : "भावनाओं को संयत, सुन्दर और प्रेषणीय बनाने के लिए परम्परागत छन्दों, तुकों और अलंकारादि की अनिवार्य आवश्यकता होती है।" मैंने एकान्त में इस परामर्श पर खूब सोच-विचार किया। पर मेरा मन इसे अनिवार्य आवश्यकता के रूप में नहीं स्वीकार कर सका। अन्ततः मैंने मुक्त छन्द को अपनाया और अब मैं अधिकांशतः उसी के द्वारा अपने-आप को व्यक्त करने का यत्न करता हूँ। अधिकांशतः इस लिए कि कभी अभ्यास के लिए और कभी मित्रों को चमत्कृत करने के लिए अब भी यदा-कदा परम्परागत छन्दों में कुछ-न-कुछ लिखता रहता हूँ।

परन्तु मुक्त छन्द के विषय में मेरी अपनी कुछ धारणाएँ हैं। एक पाश्चात्य कवि ने (शायद डी० एच० लारेंस ने) मुक्त छन्द के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि मुक्त छन्दमयी प्रत्येक कविता अपने-आप में पूर्ण एक इकाई होती है। वह भावानुकूल शब्द-संयोजन का एक सुचिन्तित और अनुशासित प्रयास होता है—ऐसा प्रयास, जो अराजकता नहीं बल्कि उच्चकोटि का अभिव्यक्ति-संयम है—ऐसा संयम जो परम्परा से भिन्न होते हुए भी उस से संयुक्त है क्योंकि नया है और मौलिक है, क्योंकि वह वर्तमान के एक क्षण की गहनतम अनुभूति की अभिव्यक्ति है। और, कोई भी क्षण समय की अनवरत धारा से विच्छिन्न नहीं है, विभिन्न भले ही हो (बल्कि, विभिन्न तो होगा ही)। ऐसे मुक्त छन्द की अधिकांश कविताओं में मैंने लय के समावेश और निर्वाह का विशेष ध्यान रखा है क्योंकि मैं मानता हूँ कि गद्य कविता नहीं है, गद्य ही है। कविता में, चाहे वह आज की हो चाहे आगामी कल की, यदि लय नहीं है, यदि तन्त्र-कौशल नहीं है, यदि वह 'कथन' मात्र है न कि 'रचना', तो उसे मैं कविता

नहीं कहूँगा। मैं 'अज्ञेय' की इस स्थापना से पूर्णतः सहमत हूँ कि "आजकल की कविता बोल-चाल की अन्विति माँगती है, पर गद्य की लय नहीं माँगती। तुक-ताल का बन्धन उसने अनात्यन्तिक मान लिया है, पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है। बाह्य अनुशासन को हेय नहीं तो गौण मान लेने पर आन्तरिक अनुशासन को वह अधिक महत्त्व देती है।"

इस दृष्टि से देखने पर मुझे लगता है कि नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है उस के अन्तर्गत बहुत-कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास है। पंक्तियों को छोटी-बड़ी कर देना; शब्दों को तोड़-मरोड़ देना; कोलन, डैश, उक्ति-चिह्न और कोष्ठकों को निरर्थक ढंगसे बैठा देना; मनमाने तौर पर लय को बदल देना; बिना आत्मसात् किये हुए नयी उपमा-उत्प्रेक्षाओं या बिम्बों को परेशान पाठकों के सम्मुख ठेल देना—ये तथा इसी प्रकार के अनेक दोष आज की अनेक कविताओं में दिखाई देते हैं। मैं समझता हूँ कि अब वह समय आ गया है कि हम हृदय-मन्थन करें, सोचें कि कहीं हम ऐसे बिन्दु पर तो नहीं खड़े हुए हैं जिस के लिए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था : 'द वन् डाइंग, द अदर पावरलेस टु बी बॉर्न'—एक युग मर रहा है, पर दूसरा जन्म लेने में असमर्थ है।

नयी हिन्दी कविता में मुझे एक और भी भ्रान्ति दिखाई दे रही है। नये और यथार्थ के चित्रण के नाम पर इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं जैसे—

अस्पताल, क्लब, व्यायामालय
साड़ी, ब्लाउज़; फ़्रॉक, कमीज़ें
कुश्ती, दंगल, मैच, तमाशे

ऐसी परिगणना न तो हमारे सम्मुख कोई प्रभावशाली बिम्ब ही उपस्थित करती है और न आज के जीवन-यथार्थ के प्रति कोई रागात्मक उत्तेजना ही उत्पन्न करती है।

आप पूछेंगे : तो नयी कविता का कथ्य क्या है ? क्या वह आज का यथार्थ ही नहीं है ? कहूँगा कि हाँ, वह है। पर केवल वही है, यह मैं नहीं मानता। कवि की संवेदन-शीलता देश-कालातीत हो सकती है। वह 'परिभू' और 'स्वयम्भू' हो सकता है। वह बीते कल के यथार्थ से भी सम्पृक्त हो सकता है और आनेवाले कल की सम्भावनाओं से भी। हाँ,

यह अवश्य है कि कवि कोरा काल्पनिक या मानवोपरि मानव नहीं है। वह प्रमुखतः आज का जीवित, जाग्रत, राग-विराग-युक्त प्राणी है। वह आज के जीवन, चिन्तन, द्वन्द्व—सभी में जीता है, सभी को भोगता है, सभी से प्रतिकृत होता है: कुछ से शरीर-द्वारा, कुछ से संवेदित व्यक्तित्व-द्वारा। इसी से आज के जीवन-यथार्थ की अभिव्यक्ति ही आज के कवि की प्रधान और सच्ची अभिव्यक्ति है। ऐसी ही अभिव्यक्ति के लिए वह निरन्तर सचेष्ट है, निरन्तर प्रयोगशील है, निरन्तर अन्वेषी है। यह अभिव्यक्ति व्यक्तिगत हो कर भी समष्टि से संश्लिष्ट हो सकती है और समष्टिगत हो कर भी व्यक्ति की अनुभूत हो सकती है।

एक अन्तिम निवेदन। मेरा विश्वास है कि कविता दर्शन नहीं है, अध्यात्म नहीं है, मतवाद नहीं है। सर्वोपरि वह अभिव्यक्ति है जो पाठक को उद्वेलित करती है। इस उद्वेलन के प्रभाव में आप आनन्दित भी हो सकते हैं और क्षुब्ध भी। आप में प्रेम भी जाग सकता है और घृणा भी। आप क्रान्ति में भी प्रवृत्त हो सकते हैं और समाधि में भी। पर आनन्द, क्षोभ, प्रेम, घृणा, क्रान्ति, समाधि—इन में से एक भी कविता का साध्य नहीं है (दूसरे शब्दों में, सभी कुछ साध्य है।) कवि तो मानो वह पनडुब्बा है जो वर्तमान के अनुकूल सागर में डूब कर, तल में स्थित सीपी का मुँह चीर कर, मोती निकाल ले आता है और आप को सौंप देता है। अब आप चाहें तो उस मोती को अपनी मेज़ पर सजा कर उसे निर्निमेष देखते रहें, चाहे उसे अपनी प्रिया के आभूषणों में टँकवा दें, चाहे उसे बेच कर बैंक बैलेंस बढ़ा लें। कविता का साध्य तो यथार्थ का तलस्पर्शी, सुन्दर और प्रेषणीय चित्रण है। सेसिल डे लुइस के इस कथन से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि "कविता यथार्थ को संवेदना और सहयोग प्रदान करने का एक मार्ग है: कविता यथार्थ का सृजन केवल इसी अर्थ में करती है कि वह अपनी उपलब्धि को नये रूपों में पुनः संयोजित करती है।[1]" यथार्थ से इतर कोई काल्पनिक या भावातमक उपलब्धि जिस कविता का साध्य हो (जैसा कि आज की अधिकांश 'आध्यात्मिक' कविता का है) वह दर्शन या चिन्तन या साधना की प्रभविष्णु अभिव्यक्ति भले ही हो, पर मैं उसे कविता नहीं मानता।

—प्रयागनारायण त्रिपाठी

---

१. पोएट्री इज़ वन वे ऑव सफ़रिंग ऐण्ड को-ऑपरेटिंग विद रिएलिटी: इट क्रिएट्स रिएलिटी ओन्ली इन द सेंस दैट इट रिएरेंजेज़ इट्स डेटा इण्टु न्यू पैटर्स।

समाधिस्थ

मुझ में कुछ है
जो मेरा बिलकुल अपना है
जो है मेरे क्षीरोज्ज्वल मन के मन्थन का कोमल माखन।
जिस को मैं ने बहुत टूट कर
बहुत-बहुत अपने में रह कर
बहुत-बहुत सह कर पाया है—
जिस को अहरह दुलराया है।
गद्गद चिन्तन, आराधन, एकान्त समर्पण की घड़ियों में
वही-वही है : मेरा आश्रय, मेरा आत्मज, पूर्णभूत मैं।
जिस को स्वर में, लय में, शत चित्रों में,
शत-शत संकेतों में तुम को देना चाह रहा हूँ।
पर वह मेरी लब्धि
—शब्द सागर-तटवासी अचल कपिल वह—
समाधिस्थ है :
कोंच रहे हैं उस को रह-रह
मेरे व्याकुल यत्न सहस्र-सहस्र सगर-पुत्रों से सज्जित
(इस भय को भी भूल कि निश्चय
भस्म सभी ये हो जायेंगे
जब उस की समाधि टूटेगी)
—कोंच रहे हैं : पर वह स्थिर है।
—जगा रहे हैं अनुक्षण : पर वह स्थिर है।

कब जागेगा—कब जागेगा
यह दर्पण-गिरि-गुहा निवासी ?

प्रयागनारायण त्रिपाठी

कब तुरीय त्यागेगा—
यह अन्तस्थ, अचल संन्यासी ?

संख्या-भ्रम

वह : कि जिस ने लहर का मन गुदगुदाया
वह : विटप के प्राण को जिस ने दिया झकझोर
वह किया जिस ने हिया विच्छिन्न बादल का—
एक ही थी बात,
लेकिन दो घड़ी को
तीन का था शोर
चारों ओर !

यह हाथ

मेरे हाथों में यह किस का हाथ है
जो न बर्फ़ है न चिनगारी ?
मेरी उँगलियों में यह किस की उँगलियाँ हैं
जो न हथकड़ियाँ हैं न रेशम ?
मेरी साँसों में ये किस की साँसें हैं
जो न फुफुकार हैं न झंकार ?
इन से कह दो कि :
मैं स्मशान-यात्रा पर नहीं निकला हूँ
मैं ज़िन्दगी का मुसाफ़िर हूँ : उस बेलौस ज़िन्दगी का

जो अपनी लाश को पसलियों पर पाँव रख कर
ठहाके मारती है
और फिर दौड़ कर
अपने ही अजात शिशु के कपोलों को चूम लेती है
और उस सार्थक, आस्थावान, मृदु स्पर्श से वाष्पित हो
उस के प्राणों में समा जाती है।

लक्ष्य

सौदा सौदा है तभी, अगर सेवा है,
सेवा सेवा है तभी, अगर अर्पण है।
अर्पण अर्पण है तभी, अगर पीड़ा है,
पीड़ा पीड़ा है तभी, अगर सोऽहं है।
सोऽहं जब त्वं हो जाय तभी सोऽहं है,
सोऽहं का त्वं में लय ही लक्ष्य परम है।

प्रश्न

वृक्ष ! पूछूँ
किस लिए निःशब्द तुम
इतने सटे-से
निर्वसन,
निश्चेष्ट,
गुरु भू-वक्ष से—
जैसे कि बर्फ़ ?

बर्फ़ ! पूछूँ
किस लिए निःशब्द तुम
इतनी सटी-सी
निर्वसन,
निश्चेष्ट,
दृढ़ गिरि-वक्ष से—
जैसे कि चाँद ?

अधूरा गीत

पहले तो सुनने वालों की पलकें झपकीं
जैसे कमोदनी के वन को प्रातः समीर ने छेड़ा हो;
फिर कई-कई कोरों में झलकी तरल चमक
जैसे पुरइन पर तिरती जल की बूँदों को
चूमा हो पहली, लाल-सुनहली किरनों ने :
गूँजता रहा यों गीत···अन्त का छिड़ा चरण
जिस को सुनते-सुनते सहसा
हर पुतली की बुझ गयी जोत,
बुझ जायें जैसे डग-दो डग पर
सब के सब टूटे तारे;
हर पलक घिरी; थम गया गीत—
थम जायें जैसे सईं-साँझ संज्ञाहत सारे पथ-हारे
वह दर्द नहीं था केवल सुनने वालों का,
मेरा भी था :
मैंने भी जो कुछ कहा-सहा
मैं भी टूटा :
मैंने भी अपने को संज्ञाहत पाया तब :
इस लिए गूंज बुझ गयी—अधूरा गीत रहा।

यह उद्वेलन

मेरी अन्तरात्मा का यह उद्वेलन—
जो तुम्हें, और तुम्हें, और तुम्हें देखता है
और अभिव्यक्ति के लिए तड़प उठता है—
यही है मेरी स्थिति, यही, मेरी शक्ति;
इसी से संलग्न मैं उन्नीत हूँ—
यीशु के काँधे पर सधा सलीब;
इसी से विच्छिन्न मैं कमज़ोर हूँ—
लहरों पर सिहरती परछाँई,
पीपल का प्रकम्पित पात।
यही है आज की प्राण-गर्भा धरती में कसमसाता वह बीज
जो कल का विस्फोट है
और परसों का स्वप्न-फूल
और बरसों की अटूट फलवान् मधुमती आस्था
मेरी अन्तरात्मा का यह उफान
जब तक मुझे तुम से, और तुम से, और तुम से जोड़ने वाला
जीवन्त सूत्र है
जब तक मैं बिखरूँगा नहीं, मैं मरूँगा नहीं
जब तक यह मेरा विश्वास—
कि समय की अनवरत तीव्र धारा में
कहीं मैं ठहरूँगा, कहीं किनारा पाऊँगा,
टूटेगा नहीं, टूटेगा नहीं।

नदी-तट, साँझ और मेरा प्रश्न

"आह देखो, नदी का तट बहुत सुन्दर है—
बहुत सुन्दर··"

(किन्तु यह तो नहीं है उत्तर
उस प्रश्न का
जो मैंने किया था
जो कुरेदे जा रहा है प्रतिक्षण
मन की अतल गहराइयों को ।)

"आह, देखो, झुक रही है साँझ :
आओ, इस शिला पर दो घड़ी बैठें—
निहारें टूटती, जुड़ती लहरियों को,
जो धार के सान्निध्य में भी
बहुत प्यासी हैं, बहुत असहाय हैं—
उन झुरमुटों को
जो अँधेरे से लिपट कर सो गये हैं
उस क्षितिज को
जो सँभाले गोद में सन्ध्या-नखत दो-चार
चुप, झँवरा रहा है····"

(किन्तु यह भी नहीं—
यह भी नहीं है उत्तर
उस प्रश्न का
जो हृदय को शिला-सा चाँपे हुए है ।)

"....देखो, चुक गयी यह साँझ कितनी शीघ्र,
गहराया अँधेरा—
रात घिरने लगी : निश्चित, भयावह, निस्तब्ध।
आओ, अब उठें, वापस चलें :
एकान्त है, वन है, नदी का तीर है—
दुर्दान्त कोई पशु न हम को सूँघ ले।
—मैंने सुना है, सच, कि हिंसक जानवर में
प्यास होती है बहुत ही तीव्र
ताजे आदमी के खून की—
या कि घर के रास्ते ही
घुप अँधेरे में कहीं हम खो न दें
इसलिए, आओ, उठें, वापस चलें हम...."

(आह, मेरा प्रश्न
जिस का विलमता ही रहा उत्तर
किन्तु जो है ग्रस चुका अस्तित्व को सम्पूर्ण
जैसे नदी, झुरमुट, क्षितिज, अम्बर को
अँधेरा!)

अन्तिम दो क्षण

दो क्षण चुप-चुप
लिये हाथ में हाथ
निहारे वन, उपवन, तृण,

दृष्टि बचावें

गरम धूप में
नरम दूब पर

बैठे रहें निकट हम
किसी ध्यान में
बहुत पास
फिर भी उदास
डूबे-डूबे-से

फिर सहसा कस जायें हाथ कुछ और
डूब से उभर साथ कुछ और पायें
हम-तुम अपने को
नरम दूब पर
स्वच्छ धूप में दो क्षण और नहायें
बाँहें किसी भरम से पुलकें
ओठ गरम हो जायें

गहरे हरे नीर-से, क्षण चंचल हो थिरें,
सहज हम फिरें
धूप की धारा में घुल जायें

दो क्षण बैठें—अन्तिम दो क्षण—
चिर-कृतज्ञ क्षण के प्रति
अपने प्रति

दूर-क्षितिज की ओर—
दृष्टियाँ चार
देखती रहें
देखती रहें
समर्पित !

नयी बरसात

सुप्त जल—
जो कुनमुनाता था,
झकोरों के सहारे सर उठाता था,
देखता था अचानक सम्मुख अड़े गिरि को;
क्षुब्ध होता था,
थपेड़े मारता था,
फिर लजा कर
(हार कर शायद स्वयं से)
लौट जाता था;
शान्त जल—
जो अपरिमित लघु-लघु प्रयत्नों की थकन से
चूर होता था
सरोवर के हृदय में दुबक कर
चुपचाप सोने के लिए मज़बूर होता था
अन्ध जल—
जो निपट सीमा बद्ध मणिधर-सा
भू-विवर में रेंगता था मौन
बाहर के विपुल विस्तार में
निज को समर्पित, रिक्त करने से बहुत भयभीत
आज सहसा इस निमिष में
इस नयी बरसात में
पा इन चतुर्दिक के उमड़ते बादलों का
निर्झरों का
विपुल सोतों का
सरित का नीर

झंझावात में
कर के विखण्डित शैल का ध्रुव गर्व
सब को धो गया है
और भू का नग्न तन
नूतन तरलता से विमण्डित हो गया है।

चाहता हूँ

चाहता हूँ
यही तो अन्तिम मिलन
जिस से कि तुम से दूर रह कर भी
तुम्हारी याद में
तुम में
सरल विश्वास में
रस में
तुम्हारे प्राण में मैं रह सकूँ
जिस से कि दूरी की व्यथा का दाह
कर दे भस्म हम में वह सभी कुछ
(वर्जना, आसक्ति, कुण्ठा)
जो तुम्हारे साथ है
पर सच नहीं है;
चाहता हूँ मैं इसी से
यही चुम्बन
हो स्मरण अन्तिम, चिरन्तन।

विदा के क्षणों में

प्रथम क्षणों का चित्र : शान्त ताल-जल में
फकी गयी कंकरी से बूँदों का उछलना
लहरों पर लहरों का वृत्ताकार फैलना
रह-रह कर वेला से टकराना, टूटना····

और इन अन्तिम क्षणों का यह सहज वृत्त :
तन का यों बढ़ी हुई बाँहों में सिमटना
जैसे स्वयं मेरी ही ममतालु बालिका हो
मेरी कामना की सुता, मुझ पर सर्मपिता

सुख तो अनेक दिये पर्वत-पगडण्डी ने :
प्रसन्न फूल, झरने, अरण्य, घन, घाटियाँ,
प्रफुल्ल खग, अभिनव अरुणोदय, अनुरंजित नभ
दुःख भी अनेक : पथरीला पथ, चढ़ाइयाँ,
थकान, हिम-पात, शीत, आँधियाँ, अकेलापन···

परन्तु मन विराट् जिस सुख का अन्वेषी था
(विराट् दुःख जिस का सखा है, नित्य सहचर है)
तुम्हीं ने दिया सह कर इस निपट प्रवासी को
तुम्हीं ने संचरित किया क्लान्त, रिक्त धमनी में
अजस्र, नव, उष्ण रक्त
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श-प्यासे अभ्यन्तर को
तुम्हीं ने अनायास दी अटूट वह आत्म-तृप्ति
खोल दिये जिसने सब वातायन मन के
कपाट सभी अवरुद्ध वासना की कारा के

विमुक्त किया अन्धतमः — सन्निविष्ट यायावर आत्मा को
विदा के निमिषों की मूक, निर्निमेष चितवन से
तुम्हीं ने दी शिखरवती, अग्रगामी, स्पष्ट दृष्टि· ·

जाता हूँ
अदम्य हिम-खण्डों के रहस्य-पट खोलने को
अदम्य पथ-चारी इन चरणों को तोलने को
आगे अब—
जाता हूँ।

सैलानी

कौन सागरों, कौन तटों, किन चट्टानों, किन द्वीपों में
इस जहाज़ को जाना है
मैं नहीं जानता;
क्योंकि रहा अपना तो हरदम
केवल मुसाफ़िरी बाना है।

यदि जहाज़ यह
कई जलों पर चिह्नित करता जुटती-मिटती पथ-रेखाएँ
कई-कई ज्वारों को सह कर राह बनाता
आज यहाँ बह कर आया है
यदि यह आ कर टकराया है ऐसे गीले, शरमीले तट से,
यदि इस ने लंगर डाला है आज यहाँ पर
यदि इस के स्वागत में क्षण भर दीप मनोहर मुसकाया है
तो कृतज्ञ ही हो सकता हूँ मैं उस के प्रति
शिरोधार्य ही कर सकता हूँ स्वागत की मुसकान क्षणिक यह।
क्या दे सकता हूँ बदले में ?

सैलानी हूँ : वणिक नहीं हूँ।

यदि यह जा कर भिड़ जायेगा
कल परदेशी, काली-भूरी चट्टानों से
यदि यह अड़ जायेगा उथले, अनजाने पानी में धँस कर
यदि यह उज्ज्वल हिम-खण्डी की गति को
वेधक समीपता को
कल पहचान नहीं पायेगा
यदि टकरायेगा उस से
टूटेगा
डूबेगा।
तो भी क्या ?
उस कल के आने पर वह सब कुछ सह लूँगा।
और अधिक क्या कह सकता हूँ ?
सैलानी हूँ : बधिक नहीं हूँ।

समानान्तर लकीरें

मैं अभी तक भी न छू पाया तुम्हें
क्योंकि ढह पायी नहीं
अब तक
हमारे बीच की कुछ भीतियाँ—
यद्यपि बहुत झीनी
पवन-सी क्षीण।

अपरिचय की एक थी :
वह ढह चुकी है—
कर चुकी है दृष्टि को छू दृष्टि

परिचय खूब :

पर अभी हैं और भी :

जैसे कि कायरता—
(कि आत्मा की अटल जो माँग,
तुम बस खोजती रहती
उसी से भागने की राह)—

और संशय
(यह कि पीपर-पात-सा
चल है पुरुष-मन)

और भय
(जग क्या कहेगा ?
—क्षुद्र जग !)

और शायद पाप
(क्यों कि केवल
ग्रन्थि-बन्धन-दम्भ ही है
पुण्य की ध्रुव माप !
जय हो ! धन्य !)

तो यही हो,
ओ सती !
तो नहीं छू पाय तुम को,
ओ अछूती पुण्य !
मेरे स्पर्श का अंगार;

तो सदा चलती रहो तुम
तो सदा चलते रहें ये स्वप्न
तो सदा चलता रहूँ मैं :
ये समानान्तर लकीरें तीन
(शायद चार)।

आशिष

नहीं याचना मैं ने की थी
नहीं कभी कुछ भी चाहा था
किया समर्पित सहज भाव से तुम ने जब जो
बस उस को ही स्वीकारा था
बस उतना ही था जो सुख था : उज्ज्वल, सुन्दर
अपना
अपने से भी प्रियतर
इसी लिए तो—
भोग्य नहीं माना था उस को : केवल थाती
इसी लिए तो—
अन्तिम इस क्षण
तुम को यह उपलब्धि सौंपते
मन में कोई झिझक नहीं है
शेष नहीं है कोई उलझन;
दुख है
लेकिन कब वियुक्त था वह काया से
धूप-लिपी धरती पर र्चचित छायाओं-सा
छायाएँ—जो होती जातीं गहन, दीर्घतर
जैसे-जैसे धूप निखरती, धूप सिमटती····
जाओ, साथी !
पथ पर तुम को—
जावक-अर्पित चरण-तलों की—
रहे देखता यह सुख मेरा
शत-शत शंखपुष्पियों-सा दूबों में खिल कर
धारण करता रहे गर्व से दृढ़ चरणांकन

जाओ, साथी !
शक्ति बने यह—हम दोनों की—
वर्षा में कोटर में दुबके आहत खग की अपलक चितवन :

आशिष मेरी।

प्रभु की खोज

जब सभी देवता मिले मुझे ऐंठे-ऐंठे
जब सभी मिले पत्थर-प्रभु, बेदिल, बेज़बान,
जब सभी छिपा कर मुँह मन्दिर जा बैठे;
जब सब पर छाया क्षुद्र पूजकों का वितान;

तब मैं ने देखा ढूँढ़-ढूँढ़ कर आसमान—
मुझ को कोई भगवान् वहाँ भी नहीं मिला;
अक्षर-अक्षर पढ़ कर देखा पोथी-पुरान—
मुझ को कोई सन्धान वहाँ भी नहीं मिला।

गंगा की गहरी धारा में बस इसी लिए
सब ज्ञान-ध्यान का मल धो आया मैं ज्ञानी,
जिस से मेरी यह खोज बहुत निश्चिन्त जिये
जिस से पा जाऊँ कोई ईश्वर इनसानी।

प्रभु जो बाँहों में उलझ झूमने वाला हो,
जो कहे-सुने कुछ जी की, काँधे शीश टेक :
जो इन गीतों का प्यार चूमने वाला हो—
मैं खोज रहा हूँ अपना वह प्रभु मात्र एक !

आतशी शीशा

कौन ?
सौदागर ?
कहो—क्या बेचते हो ?

जी—यही—बस आतशी शीशा :
बड़े ही काम का है
जब, जहाँ भी जाइए
बिन आग, आग लगाइए
बस चिलचिलाती धूप में
इस को—ज़रा इस रूप में
सूरज तरफ़ कर
कभी नीचे, कभी ऊपर,
बिन्दु 'फ़ोक़ल' खोज लीजे;
मौज लीजे—
सभी कुछ सुलगाइए।

मृत्युंजय छन्द

आँखों में आँखें उलझाये
हम रहें बैठ
जब तक न स्वयं चारों आँखें

हो जायँ बन्द;

प्राणों से उलझा प्राणों को
हम रहें पैठ,
जब तक न प्राण दोनों के
हो जावें अ-स्पन्द

जब तक न बह उठें फूट-फूट
पलकों के बाँध तोड़
अन्तस् के मृत्युंजय मुक्त छन्द
निर्द्वन्द्व !

साँसें

उत्तप्त धरती की गरमीली, हलकी साँस
ऊपर उठी;
प्रोज्ज्वल गगन की सर्दीली, भारी साँस
नीचे झुकी;
यह हुआ फिर-फिर
जब तक न आयी साँझ घिर-घिर
और नीचे-ऊपर की साँसें सम न हो गयीं—
सम, शीतल और शान्त
जैसे—जैसे कि
हम।

एक गीत

दूर—सघन झुरमुट में
अनदेखा, अनजाना कोई वन-पाँखी चहचहाया
स्वर उस का छनता-छनता तरु-पत्रों से
तिरता-तिरता मन्थर पवन-झकोरों पर
ध्वनि-प्यासे मेरे इन श्रवणों तक आया
रोम-रोम स्वर-सुख से सिहरा, हर्षाया
जैसे स्वयं मेरे प्राण-कुंजों में आ बैठी
मेरी ही यायावर आत्मा ने
बटोर कर विराट् कोई परितोष
एक गीत गाया

एक गीत—
जिस का कुछ अर्थ नहीं
पर जो है इस क्षण का उच्चारण
इस निमेष के सुख की, गरिमा की
सद्यः-विकसित भाषा
इसीलिए : व्यर्थ नहीं

एक गीत—
अन्धकार के अविरल सागर की वेला पर
जगर-मगर उगने वाला सन्ध्या-तारा
एकाकीपन के दुख से धूमिल
फिर भी—कितना स्थिर, कितना प्यारा !

एक गीत—
भ्रम के, संघर्षों के, दम्भ-दर्प-काम के

विषाक्त दलदल में
ले मधुर टेक
सहसा खिल उठनेवाला उत्पल : मात्र एक !

ठहरा स्वर
छायाकृति वृक्षों से तारों के झुरमुट की ओर उड़ो
अपने दृढ़ पंख तोल
अपने ही उड्डीयन पर निर्भर
लेकिन वह (सचमुच क्या आत्मा थी ?)
मेरे मन के आहत पंखों में
कितना बल गयी घोल !

मकड़ी-जाल

मेरे चारों ओर बिछ गया है जो यह रेशमी जाल
मैंने ही तो उस को मकड़ी बन-बन कर दिन-रात बुना है;
नये-नये झीने तारों को
अपने से बाहर फैलाते जाने का रंगीन मोह
मैंने ही रह-रह कर पाला है
अगर आज मैं उलझ गया हूँ
अपने ही आत्मा से निर्मित इन तारों में
अगर प्रतीक्षा-रक्त-पिपासा-तृप्ति-प्रतीक्षा-रक्त-पिपासा—
यही हो गया है जीवन-क्रम
तो अपनी दुर्बलता के इन अभिशापों को
चुप हो कर सहना ही होगा
और कदाचित्—
कभी मुक्ति की तृष्णा जागे—
तो चुन-चुन कर एक-एक उलझे धागे

अपने को ही सुलझाने होंगे;
एक-एक कर इन को सब को पीना होगा।
एक मात्र बाहर के इन झंझावातों से
नहीं कभी भी ये ताने-बाने टूटेंगे।

लक्ष्य-वेध

आँखें लीं मींच
और खींच ली कमान
और छोड़ दिया शब्द-वेधी बाण
लक्ष्य बिंध गया।
ओ रे ओ अहेरी !
दृष्टि आभ्यन्तर तेरी
कैसे इस अदृष्ट बिन्दु
इस लक्ष्य पर पड़ गयी ?
मात्र एक क्षण को कुछ सिहरन हुई थी
ध्वनि झंकृत हुई थी उसी क्षण को
मर्म-थल में
तक कर उसे ही तू ने
तन कर जतन से
कान तक तान एक तीक्ष्ण तीर
छोड़ दिया।
अब इस लक्ष्य वेदना के निरुवारन का
कोई तो सुगम उपचार समझाता जा,
अथवा इसे झेलने का
सहज सह जाने का
ओ रे दुर्निवार !
कोई भेद ही बताता जा !

मैं बिन्दु

मैं नहीं हूँ
यह त्रिभुज, यह चतुर्भुज, यह वृत्त
त्रिविध अथवा विविध
रेखा-पराजित
ये एक भी आकार
सुन्दर, स्पष्ट
किन्तु सीमा-रुद्ध, स्वयमाबद्ध !

बिन्दु हूँ मैं
मात्र केन्द्राभास : वह जो
हर असीम समीम का
हर रूप, हर आकार का विस्तार,
प्राणाधार,
फिर भी चिर-अरूप, अमाप,
अपनी मुक्ति में सन्नद्ध !

■ ■

कीर्ति चौधरी

परिचय

•

[कीर्ति चौधरी : जन्म उन्नाव ज़िले के नईमपुर गाँव में; जनवरी १९३५ में। बचपन गाँव में बीता, जहाँ पैतृक ज़मींदारी थी। फिर उन्नाव आना हुआ; पढ़ाई कानपुर ले गयी। सन् १९५४ में एम० ए० परीक्षा पास की। सम्प्रति 'उपन्यासों के कथानक-तत्त्व' पर अनुसन्धान कर रही हैं।

"गाँव, क़स्बे और शहर के विचित्र मिले-जुले प्रभाव मेरे ऊपर पड़ते रहे। अमराई में बिखरती मदिर गन्ध और तालों में ढेर-ढेर फूली कोका बेली मुझे नहीं भूलती। यन्त्रों-कलों की गड़गड़ाहट और कोलाहल-भरी सड़कों वाले नगर भी अपरिचित नहीं रहे। पर उन्नाव का छोटा-सा क़स्बा मानो अपनी नितान्त सामान्यता के कारण ही अधिक आकर्षित करता रहा है।"

पिता ज़मींदार रहे पर ज़मींदारी जाने से बहुत पहले ही उन्होंने इधर से मन हटा कर पुस्तक-प्रकाशन की ओर लगाया। माँ कवयित्री और कहानी-लेखिका हैं। "माँ के घर के काम-काज को अधिक समय देनेपर मुझे बड़ी झुँझलाहट होती थी—वे चुप-चाप बैठ कर लिखती-पढ़ती क्यों नहीं? पर आज मालूम होता है कि सचमुच ही हर समय एक अकेले साहित्य का ध्यान कर के बैठे रहना कुछ बनावटी बात ज़रूर है; दैनन्दिन जीवनके छोटे-मोटे कामों में रुचि लेना और प्रथमतः इन्हीं में रुचि लेना अधिक ठीक बात है।"

"अतीत मुझे अन्तराल दे कर याद है; बहुत-कुछ भूल गया है। इस से कभी-कभी भ्रम से जाना है कि क्या मैंने केवल जीवन के खण्ड जिये हैं?"

उन्नाव में एक साहित्यिक गोष्ठी संयोजित की, जिस में कविता-कहानी-निबन्ध आदि पाठ के बाद "पुडिंग की बनाई और पुल-ओवर की बुनाई पर विचारों का आदान-प्रदान होता था। एक दिन यह भी रहस्य खुला कि नयी कविता की भरपूर निन्दा करने वाली कई समस्याओं ने स्वयं नयी कविता लिख कर कॉपियाँ भर डाली थीं।"

पढ़ने को छोड़ "शौक़ बदलते रहते हैं", नये लोगों से मिलना, भीड़ में चुपचाप चलना, छोटे बच्चों के बीच खेलना और वस्तुओं की सज्जा करना प्रिय है—वस्तुएँ चाहे ड्राइङ्गरूम की हों चाहे भोजन की थाली की। "पर भावों या शब्दों की सज्जा करने में संकोच होता है—वे तो 'सही हो जाते हैं मेरी भूल से'।"

कविता में विशेष रुचि है, पर कहानी-उपन्यास लिखने की भी प्रवृत्ति है। "उन्नाव में कविता का तनिक भी वातावरण नहीं है—कोई चाहे तो इस लिए कह सकता है कि उन्नाव का वातावरण बहुत अच्छा है।"

नाम क़ायदे से कीर्तिबाला सिनहा होना चाहिए, पर रचनाएँ कीर्ति चौधरी नाम से ही प्रकाशित होती रही हैं।]

■

वक्तव्य

अपनी रचनाओंकी व्याख्या आजकल प्रायः सभी लेखक करने लगे हैं। पहले के युगों में ऐसी बात नहीं थी। इस दृष्टि से हमारे साहित्य ने बड़ी प्रगति की है। प्रगति ही कहेंगे न इसे ?—कि पहले हम 'विशुद्ध' न सही शुद्ध कवि थे और अब हमें मात्र कवि होना पसन्द नहीं आता, हम आलोचक भी होना चाहते हैं, भले यह आलोचना केवल हमारी ख़ुद की रचनाओं की व्याख्या तक सीमित रहे।

फलतः समकालीन कविता और समकालीन साहित्य को देखने पर पता चलता है कि हम बड़ी तेज़ी से आलोचक बनते जा रहे हैं। और भय यह है कि एक दिन कहीं ऐसा न आ जाये कि हम निरे आलोचक हो जायें, कवि रहें ही नहीं।

'सप्तक'की वक्तव्य-परम्परा इस भय की और भी पुष्टि करती है।

परन्तु, इस समस्या का एक पहलू और भी है। सम्भवतः, यह अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है – कि आज का कवि इतने विभिन्न तत्त्वों से मिल कर बना है और उसने इतने अधिक प्रभाव ग्रहण किये हैं और वर्ण्य विषय के प्रति उसमें ऐसी विविध प्रतिक्रियाएँ हुई हैं कि वह अकेली अपनी कविता से अभिव्यक्त नहीं हो पाता। या इसे यों कहें कि अकेली कविता कवि को पाठक के पास तक नहीं पहुँचा पाती। कुछ और भी अपेक्षित है। इस 'कुछ और' के बिना आज का कवि अपने को समझा नहीं पाता, आज की कविता अपने को सुलभ नहीं बना पाती और पहले के संस्कारों वाला आज का पाठक इस कविता को ग्रहण नहीं कर पाता।

कविता की प्रगति को देखते हुए होना तो यह चाहिए था कि आज की कविता उस 'चितवनि' के समान होती, सुजान जिसके वश में हो जाते हैं। पर, 'और कछू' की बात दूर, आज की कविता को अपने अतिरिक्त 'कुछ और' की भी आवश्यकता पड़ गयी है जिसे हम भूमिका, दो शब्द, व्याख्या, वक्तव्य आदि नाम देते हैं। सम्भव है कि यह नयी कविता की कोई ऐतिहासिक आवश्यकता हो जिस के बिना इस समय

काम चलता नहीं दीखता ।

अस्तु, यह कहना शेष है कि जिस भाँति असुन्दर स्त्री का प्रसाधनों की सहायता से अपने को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न करना अशोभन जान पड़ सकता है, उसी प्रकार यदि पंगु कविता अपने को व्याख्या की पंगु बैसाखी पर टिकाने का व्यर्थ उद्योग करे तो कुछ लोगों को हँसी आ सकती है । यह बात दूसरी है कि असुन्दर स्त्री या पंगु कविता को अपने-अपने लिए उद्यम करने का पूरा अधिकार है, और कुछ लोग ऐसे होंगे ही जो इन दोनों से सहानुभूति दिखायें । आजकल की अधिकांश नयी कविता, जो या तो वक्तव्य के साथ है, या स्वतः वक्तव्य है, कदाचित् इसी लिए बहुतों से प्रोत्साहन पा रही है ।

प्रोत्साहन मिल रहा है, पर इस के साथ ही नयी कविता का आतंक-सा फैलता जाता है । जहाँ नयी कविता कुछ लोगों की दृष्टि में मात्र उपेक्षा की वस्तु है, वहीं बहुत-से लेखक-पाठक और पत्रादिक नयी कविता से आतंकित दीख पड़ते हैं ।

प्रोत्साहन, उपेक्षा या आतंक ? नयी कविता के प्रति इन में कौन-सी दृष्टि सही है ? शायद एक भी नहीं ।

नयी कविता है क्या ? आजकल के किसी भी संकलन को उलटने पर दिख जायेगा कि नयी कविता प्रायः नये विषय पर लिखी जाती है या पहले के विषयों को नये ढंग से कहना चाहती है । लयात्मक अथवा लय-हीन मुक्त छन्द में होती है । समाज और व्यक्ति की जटिल समस्याओं का अंकन करती हुई 'प्रगतिशील' अथवा सिद्धान्त प्रधान होती हुई भी अपने को भावात्मक दिखाना चाहती है । उक्ति सरीखी लगती है। कभी जटिल और कभी बिलकुल सरल हो जाती है । प्रायः शिथिल और कभी-कभी सुनिश्चित गठनवाली होती है । नगर की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है पर गँवई-गाँव के शब्दों का उपयोग करती है । भग्नता तथा विषाद को व्यक्त करती है पर आस्था और निष्ठा का सन्देश देती है ।

और : यों तो यह सूची दूर तक बढ़ायी जा सकती है, पर जो बात मैं कहना चाहती हूँ, वह इतने से स्पष्ट हो जायेगी । नयी कविता परस्पर विरोधी या विरोधी जान पड़नेवाले गुणों और विशेषताओं का एक अनोखा संगम है । कदाचित् इसी लिए कुछ समय पहले तक वह दीक्षागम्य थी । अब उतनी नहीं रही, पर मैं फिर कहूँगी कि प्रोत्साहन देने अथवा

आतंकित होने से वह न समझी जा सकेगी। रुचि, धीरज, सहानुभूति, समझ-बूझ और सच्चे काव्य-प्रेम की ही उसे अपेक्षा है। आज की कविता का एक नया रस है और रस आनन्द-प्रधान ही नहीं, शुद्ध 'आनन्द' होता है, ऐसा हमारे शास्त्रों में बताया गया है।

मैं ? मेरा जीवन-दर्शन ? ये प्रश्न प्रासंगिक हैं। पर बड़े हैं। वस्तुतः, कविताएँ ही बहुत कुछ 'मैं' और 'मेरा जीवन-दर्शन' हैं। उन के अतिरिक्त यदि कुछ और है तो वह जीवन है, जिसे मैं जी रही हूँ और जिस में मेरी रुचि है।

कविता लिखना कैसे आया ? यह मैं स्वयं ठीक नहीं जानती। प्रेमचन्दजी और सम्पूर्णानन्दजी से हम लोग सम्बन्धित हैं। 'निराला' जी अरसे तक युग-मन्दिर में रहे हैं। नाना-मामा-मौसी सब कुछ-न-कुछ लिखते रहे थे। पिता में विशिष्ट साहित्यिक रुचि है। माँ ने साहित्य-क्षेत्र में प्रसिद्धि पायी है। बड़े भाई भी अपने को लेखक कहते हैं। ऐसे वातावरण में कविता मेरे लिए शायद एक अनिवार्यता बन गयी। घर, परिवार, वातावरण, संस्कार और वृत्ति सभी में साहित्य था। मैंने चाहा होता तो भी सम्भवतः मेरे पास कोई दूसरा उपाय न था।

पर मैंने ऐसा चाहा ही क्यों होता !

यह ज़रूर चाहा है कि मैं कुछ कहूँ। पर वह कुछ ऐसा छिपा हुआ नहीं है कि उस के विषय में कहे बिना काम न चले। कविताएँ, सच है कि अधिकतर ऐसी रही हैं जिन्हें मन में बाँध कर रखना सम्भव न हो सका। उन को कह डालने का अपराध मुझ से जाने-अनजाने में हो गया है। मेरे अपराध का दण्ड आप भुगत रहे हैं कि यह आप को पढ़ना पड़ रहा है।

इन बातों ने बड़ी जगह घेर ली। इतने में तो मेरी तीन-चार कविताएँ आ सकती थीं !

— कीर्ति चौधरी

दायित्व-भार

दिन चढ़ा, दोपहर ढल आयी :
वह धीवर की कन्या
डलियों में,
जाल मछलियाँ संग लिये वापस आयी।
सब पास-पड़ोसी,
चरवाहे, रखवारे, खेत-मड़ैयों के,
हल-बैलों की जोड़ी हाँके,
श्रम-भार गँवाते,
घर जाते।
मुझ को प्रभात-दोपहरी सारी बीत चली
कुश-काँस बीनते,
ख़त्म नहीं है काम।
अनभ्यस्त हाथ,
धीरे-धीरे,
बिखरा-बटोर
करते रहते हैं,
सुबह-शाम
क्या जाने, कब पूरा होगा !
पर होगा तो, मुझ से होगा,
इस आशा में
दायित्व सँभाले बैठा हूँ।

जो ख़त्म कर चुके काम,
राह में उन का वन्दन होता है।
मुझ में आतुरता,

दौड़ूँ मैं भी, मिल जाऊँ,
सँग-सँग गाऊँ
विज्ञापित करूँ,
कि मैं भी हूँ कर्मठ,
मैंने भी किया काम।
ओ दर्शक-पाठक की आँखो,
देखो मेरा भी यहाँ नाम !
पर भय का अंकुश बार-बार,
मेरे चरणों को रहा थाम :
जब उपवन के स्वामी,
उपवन में आयेंगे,
पत्ती-पत्ती पर पायेंगे,
जो सृजन कथा—
अकुलायेंगे—
तब पथिकों के जय-घोष
काम क्या आयेंगे ?
यह अनभ्यास,
ये अपटु हाथ,
पर मेरे मन में अमित चाह !
दिखती है मुझ को स्पष्ट राह :
कुछ देर भले ही लग जाये
दिन ढले चाँद भी उग आये
मैं कर्मशील,
मैं जागरूक,
दायित्व सँभाले बैठा हूँ—
जब होगा तो मुझ से होगा
इस आशा में।

आवाज़

सब जो हैं,
अपनी कुण्ठाओं के स्वामी !
बेबस हारे लाचार,
ज़िन्दगी के खेलों में
असफल नामी।
सब जो हैं,
ऊँचे लक्ष्यों से दूर,
अज्ञान-मूढता-जड़ता,
निम्न तुच्छता के,
भावों से भरपूर।
सब हैं !
कितनी ही प्रबल वर्जनाओं के विरुद्ध जीवित !
अपने ही अस्तित्वों से ख़ुद मोहित !
तुम सुनो—
अरे ओ शिखरों पर चढ़नेवालो !
उगनेवालो !
बढ़नेवालो !
आवाज़ दूर अनजान दिशाओं से आती
विजयी कंठों से नहीं, दलित स्वर में गाती—
"आगे पथ में जो भी अँधियारा आयेगा
पावन माथे पर कभी अशुभ जा छायेगा
हम उस सब के ही ज्ञाता हैं।
वे क्या जानें ?
जो कभी अशुभ से नहीं मिले ?
काँटों से भरे राह-वृन्तों पर नहीं खिले।

जीवन के केवल विजय-पाहुने,
आख़िर बतलायेंगे भी क्या ?
असफलताओं से लड़ने,
गिरने पर थमने की
युक्ति जतायेंगे भी क्या ?"
सब क्षुब्ध खिलाड़ी,
असफलता का राज़ तुम्हें बतलायेंगे।
कब कैसे कौन कहाँ अनजाने,
गिर पड़ता, जतलायेंगे।
पथ-दर्शन जो चलने पर,
उन को नहीं मिला, दे जायेंगे।
सब जो हैं,
अपनी कुण्ठाओं के स्वामी !
बेबस हारे लाचार
ज़िन्दगी के खेलों में असफल नामी।

लता–९

बड़े-बड़े गुच्छों वाली
सुर्ख़ फूलों की लतर :
जिस के लिए कभी ज़िद थी—
'यह फूले तो मेरे ही घर !'
अब कहीं भी दिखती है
किसी के द्वार-वन-उपवन,
तो भला लगता है।
धीरे-धीरे
जाने क्यों भूलती ही जाती हूँ मैं
खुद को, और अपनापन !

बस भूलती नहीं है तो
बड़े-बड़े गुच्छों वाली
सुर्ख़ फूलों की लतर :
जिस के लिए कभी ज़िद थी—
'यह फूले तो मेरे ही घर' !

लता—२

"वृक्ष तो दूर है, भला कैसे चढ़ेगी ?
फिर बिना कुछ सहारे लता क्यों कर बढ़ेगी ?"
"अरे फैली है धरती निस्सीम,
और चेतन की प्रकृति तो विकास है;
चढ़ेगी,
फूलेगी,
शिरा-शिरा गमकेगी, आस है।
पुष्पमयी, फलदायिनी, अक्षम किस अर्थ में ?
सुषमा को आश्रय में पाले क्यों व्यर्थ में ?"

....कई दिन बीते, सुधि भूली !
पर अचानक ही एक साँझ देखा—
अंग-अंग मुकुलित
शत कोमल करों को बढ़ा
लता ने वृक्ष की दूरी सब नाप ली :
पात-पात, डाल-डाल,
सक्षम दृढ़ तरु विशाल
लता-कुंज आवृत था।
श्रान्त क्लान्त जीवन का प्राप्य
ज्यों कृत था।

गोधूली-बेला में सहसा सब बदल गया—
लगा शून्य अहं, स्पर्धा आडम्बर है,
प्रणति, नमन, जीवन का एक मूल-स्वर है।
धारा उद्दाम हर सागर की अनुवर्त्ती—
मुकुलित हर पँखड़ी, अर्पित हो कर भरती,
जीवन की गति ही बस केवल सर्मपिता
एक टेक, एक छाँह, अर्पित हर गर्विता!

लता–३

नाहक ही मेहनत गयी दिन दो दिन की।
रक्खा तो जतन से था,
चाहा भी मन से था,
कूड़े पर उगी थी—
थाम चम्पक करों में
एक गमला सजा दिया।
तुमने तो भला किया
हवा-धूप-पानी से रक्षा की।
हरियाये, फले और फूले, प्रतीक्षा की।
अभी वहाँ कूड़े पर उगती तो खिलती ही,
सुर्ख़ चटक फूलों से खिलती तो उगती ही,
रंग-रूप-शोभा से भर देती
अन्तस्तल धरती कां
वही गन्ध पाने को
इतनी जो सुख-सुविधा, देख़-भाल,
तुमने दी, व्यर्थ गयो!
कम्बख़्त से और कुछ न बना
तो मुरझ गयी।

कार्य-क्रम

दिन-दिन भर सोना
उठे भी तो भाग्य को रोना,
बहुत हुआ तो किताबों में
दिल-दिमाग़ खोना।
वर्ना किताब फेंक
दीवार में यों ही
निगाहों के बीज बोना।
क्षण-भर को खाट छोड़
पैरों को व्यर्थ हिला
माथे पर हाथ रखे मन को
चिंता के सागर में डुबोना।
कुछ और चेतना आयी तो
पैरों में सलीपर पहना,
घूम आये बाज़ार का कोना।
थोड़ी क्रियाशीलता जागी
तो पैड खींच
मित्रों को पत्र लिख
मोती पिरोना।
इन सब से सच मानो
कुछ नहीं होना !
ज़िन्दगी को ऐसा न बनाओ—
कि लगे बोझा ढोना।
दुनिया में बड़ी नियामतें हैं मित्र
ज़रा उठो, हौसला करो ना !
थोड़ा हाथ-पैर चलाओ

डा० डिल्ली रमण रेग्मी
...पी रे... ४१
पुस्तकालय

इन्हीं पैरों की चाप से
निर्झर फूटेंगे,
इन्हीं हाथों से तो
उगेगा सोना ।

अनुभव

नभ के कोने में एक सितारा काँपा,
मुझ को लगा कि हाँ,
हर चीज़ कभी तो
यों ही ऊपर चमकेगी ।
नि:स्तब्ध लहर का पानी
कंकड़ से काँपा,
मैंने जाना—
कम से कम जड़ता एक बार तो सिहरेगी ।
सुनसान जंगलों की लतरों में,
फूल खिले,
खुशबू बोली—
हाँ, एक बार सब पर यह खुशबू बिखरेगी ।
मंज़िल अब तय थी,
मैंने प्रतिमा जब पाली,
आस्था डोली—
सपना ही सुन्दर,
मूरत तो सब के जैसी, यह क्या देगी !

केवल एक बात

केवल एक बात थी
कितनी आवृत्ति,
विविध रूप में कर के निकट तुम्हारे कही।
फिर भी हर क्षण,
कह लेने के बाद,
कहीं कुछ रह जाने की पीड़ा बहुत सही।
उमग-उमग भावों की,
सरिता यों अनचाहे,
शब्द-कूल से परे सदा ही वही।
सागर मेरे! फिर भी,
इस की सीमा-परिणति,
सदा तुम्हीं ने भुज भर गही-गही।

सीमा-रेखा

मृग तो नहीं था कहीं
बावले भरमते से इंगित पर चले गये।
तुम भी नहीं थे—
बस केवल यह रेखा थी।
जिस में बँध कर मैंने दुःसह प्रतीक्षा की—
सम्भव है आओ तुम

अपने सँग अंजलि में भरने को
स्वर्ण-दान लाओ
आ, चरणों से यह सीमा-रेखा बिलगाओ।
पर बीते दिन, वर्ष, मास—
मेरी इन आँखों के आगे ही
फिर-फिर मुरझाये ये निपट काँस
मन मेरे ! अब रेखा लाँघो !
आये तो आये
वह वन्य
छद्मधारी
अविचारी
कर खंडित-कलंकित
ले जाये तो ले जाये।
मन्दिर में ज्योतित
उजाले का प्रण करती
कम्पित निर्धूम शिखा-सी
यह अनिमेष लगन—
कौन वहाँ आतुर है ?
किसे यहाँ देनी है
ऊँचा ललाट रखने को वह अग्नि की परीक्षा ?

एकलव्य

चाहा बस तुम ने है !
दाहिना अँगूठा यह !
यह तो समर्पित था,
मेरा हर लक्ष्य-उपलक्ष्य,
उपकरण, साध्य—

चरणों में पहले से अर्पित था।

बाण यह किसी का,
प्रत्यंचा भी उसी की थी।
हाथ ये किसी के,
इन हाथों की चंचल गति—यह भी उसी की थी!

मैंने तो इन को निर्माल्य-सा चढ़ाया था।
लक्ष्य अगर बेधे थे,
बाण अगर साधे थे—
मानो उन चरणों पर चढ़े हुए पुष्पों को
बार-बार माथे से लगाया, सिर नवाया था।
सब था तुम्हारा—
अरे, सब-कुछ तुम्हारा!
तुम्हीं उस से अभिज्ञ रहे।

अथवा वह मेरा समर्पण सब झूठा था।
मेरी वह निष्ठा,
वह प्राणों की आकुल प्रतिष्ठा
जिसे अर्पित थी—

तुम थे नहीं!
सिर्फ़ माटी की मूरत
क्या
माटी की मूरत थी!

देव उवाच

उज्ज्वल हैं, उज्ज्वल लेंगे, उज्ज्वलतर देंगे।
मानिक मुक्ता बोयेंगे, जी-भर काटेंगे।
करने दो मन्थन उन को यदि बड़ा चाव है—
अमृत तो हम लायेंगे, सब को बाँटेंगे।

फूल झर गये

फूल झर गये।
क्षण भर की ही तो देरी थी,
अभी-अभी तो दृष्टि फेरी थी—
इतने में सौरभ के प्राण हर गये :
फूल झर गये।
दिन दो दिन जीने की बात थी,
आखिर तो खानी ही मात थी :
फिर भी मुरझाये तो व्यथा भर गये—
फूल झर गये।
तुम को औ' मुझ को भी जाना है—
सृष्टि का अटल विधान माना है :
लौटे कब प्राण गेह बाहर गये—
फूल झर गये।
फूलों सम आओ हँस हम भी झरें

रंगों के बीच ही जियें और मरें
पुष्प अरे गये किन्तु खिल कर गये।
फूल झर गये।

प्रस्तुत

मैं प्रस्तुत हूँ,
इन कई दिनों के चिन्तन और संघर्ष बाद,
यह क्षण जो अब आ पाया है,
उस में बँध कर मैं प्रस्तुत हूँ,
तुम से सब कुछ कह देने को।
वह जो अब तक यों छिपा चला आया,
ज्यों सागर तो रत्नाकर ही कहलाता है,
अन्दर क्या है, यह ऊपर वाला क्या जाने।
मैं प्रस्तुत हूँ,
यह क्षण भी कहीं न खो जाये।
अभिमान नाम का, पद का भी तो होता है।
यह कछुए-सी मेरी आत्मा,
पंजे फैला,
असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को,
उत्सुक हो बैठी है,
क्या जाने अगले क्षण को ही आहट को पा,
सब कुछ अपने में फिर समेट ले झट अन्दर।
मैं प्रस्तुत हूँ,
तुम से सब कुछ कह देने को,
इस सागर में तुम मणि-रत्नों की कौन कहे,
कुछ शंख-सीपियाँ भी तो कहीं न पाओगे।
केवल घोंघे—केवल घोंघे।

वे जो साधारण नदियों, तालाबों, धाराओं में भो,
पाये जाते हैं।
मैं प्रस्तुत हूँ—कह देने को,
मेरे गीतों, मेरी बातों में यहाँ-वहाँ
जो ज़िक्र असाधारणता के हैं दिख जाते,
वे सभी ग़लत।
सारा जीवन मेरा साधारण ही बीता।
हर सुबह उठा तो काम-काज दफ़्तर, फ़ाइल
झिड़की-फटकारें, वही-वही कहना-सहना।
मैंने कोई भी बड़ा दर्द तो सहा नहीं।
कुछ क्षण भी मुझ सँग बहुत हर्ष तो रहा नहीं।
जो दृढ़ता-दर्प पंक्तियों में मैं ने बाँधा,।
वह मुझ में क्या,
मेरी अगली पीढ़ी में भी सम्भाव्य नहीं।
वह गीत कि जिस का दर्द देख कर,
आँखें सब भर आयी थीं,
मुझ में उस की अनुभूति महज़
घर के झगड़ों से उपजी थी।
वह अडिग, अविचलित पन्थ-ज्ञान,
जिस के ऊपर
भावुक हृदयों की श्रद्धा उमड़ी-मँडरायी
बस विवश, पराजित, तकिये में मुँह गाड़,
खीज कर लिखा गया।
वे स्थितियाँ जो रोज़ तुम्हारे, इस के, उस के जीवन में,
आती रहतीं,
मेरी भी हैं।
पर चतुराई तो यह देखो
तुम सब के सब तो सहन कर रहे मौन खड़े
मुझ में क्या ख़ूबी,
किंचित् दुःख, किंचित् सुख पर,
विश्वास-दर्द के गीत बना कर गाता हूँ।

कह सकता हूँ
क्या इतनी ही ख़ूबी सब-कुछ !
इस बल पर मेरे हर्ष-पीर बड़भागी हैं ?
क्या इसी लिए अव्यक्त मूक रह जाओगे,
ओ मेरे बन्धु-सखा ज्ञानी-सज्ञानी ?
आओ तो मेरे सँग आओ,
कुछ और नहीं तो बस,
चीख़ो ही चिल्लाओ ।
बेसुरा सही,
बेछन्द सही ।
कम से कम मेरा दर्प हटे
मैं जानूं तो ।
जिस एक व्यथा से भटका-भटका मैं फिरता
वह तुम में, उस में,
इस-उस में, सभी जगह ।
मैं मानूं तो—
अभिव्यक्त मुझे करनी है,
जन-मन की वाणी ।
मेरी प्रतिभा यदि कल्याणी
तो दर्द हरे,
सुख-सौख्य भरे,
यह नहीं कि—
अपने
तन के, मन के,
निजी, व्यक्तिगत
दुख-दर्दों में जिये मरे ।

अनुपस्थिति

सुबह हुई तो,
सूरज फीका-फीका निकला।
वातायन की हवा नहीं गाती थी गीत।
सजे हुए गुलदानों के रक्तिम गुलाब,
क्या जाने क्यों पड़ते जाते थे,
प्रतिक्षण पीत।
बाहर बिखरा,
क्षितिज शून्य मुझ से निस्पृह था।
आकर्षण भी नहीं, न था कुछ आमन्त्रण।
चित्र-लिखी-सी सज्जा दीवारों-पर्दों की,
आप लौट आतीं आवाज़ें,
कैसा प्रण।
साँझ घिरी तो,
लगा अचानक अब अँधियारी,
चिर अभेद्य हो कर यों ही मँड़रायेगी।
भूले भटके एक किरण भी नहीं यहाँ
ज्योतिर्मय कांचन तन से भू
छू जायेगी।
दीप जला, पर
उस का भी प्रकाश मटमैला
लौ की दीप्ति क्षीण होती जाती छिन-छिन।
निर्बल होते मन पर सहसा याद घिरी,–
'केवल एक तुम्हीं इस गृह में नहीं,
आज के दिन।'

स्वयंचेत

घाव तो अनगिन लगे,
कुछ भरे, कुछ रिसते रहे,
पर बान चलने की नहीं छूटी।

चाव तो हर क्षण जगे,
कुछ कफ़न ओढ़े, किरन से सम्बन्ध जोड़े,
आस जीवन की नहीं टूटी।

भाव तो हर पल उठे,
कुछ सिन्धु वाणी में समाये, कुछ क़िनारे,
प्रीति सपनों से नहीं रूठी।

इस तरह हँस-रो चले हम
पर किसी भी ओर से संकेत की
कोई किरन भी तो नहीं फूटी।

दीठ ना मिलाओ

सूर्य है, दीठ ना मिलाओ
नहीं
आँख भर आयेगी।
उस का प्रकाश, बस शिर नवा काम करो।

पुष्प यह डाल मत बिलगाओ—
गन्ध झर जायेगी।
उस की सुवास से प्राण अभिराम करो।

चन्द्र वह, हाथ मत फैलाओ—
आस मर जायेगी।
छिटकी जुन्हाई में छाया ललाम करो।

बदली का दिन

यह आज सुबह जो बादल छाये घुँघुआते,
तो धूप खिली ही नहीं
और दिन बीत गया।
यह नहीं कि खेतों पर ही सोना बरसा हो;
दिन तो बस
यों ही, यों ही-सा कुछ बीत गया।
ज्यों बिन जाने, बिन ख़र्च किये
मन का मधु-घट
हम सहसा देखें—
यह लो, यह तो रीत गया!

वह जो किरनों के पत्रों में
अनगिनत ज्योति के सन्देसे लिख आता है
वह बदली का दिन नहीं
धूप का दिन होगा!
वह जो मन
अपने और पराये खोज-खोज वितरण करता
वह रिक्त-तिक्त तो नहीं
गन्ध-मधुवन होगा!

वह शाश्वत हो !
वह ज्योति प्रज्वलित अग्नि-कुण्ड
वह ममतामय अभिनव निकुंज
उस के प्रकाश से हारेगा वह हर बादल
जो केवल घिर कर कड़वी धुन्ध उठाता है
इस के निकुंज में फूलेंगे चम्पई सुमन
निज का शुभ रँग
बन्धुत्व-मैत्री का प्रतीक बन जाता है।

बरसते हैं मेघ झर-झर

भीगती है धरा
उड़ती गन्ध
चाहता मन
छोड़ दूँ निर्बन्ध तन को
यहीं भीगे,
भीग जाये
देह का हर रन्ध्र।
रन्ध्रों में समाती स्निग्ध
रस की धार —
प्राणों में अहर्निश जल रही ज्वाला
बुझाये;
भीग जाये,
भीगता रह जाय सब उत्ताप।

बरसते हैं मेघ झर-झर

अलक माथे पर
बिछलती बूंद मेरे।

मैं नयन को मूँद
बाँहों में अमिय रस-धार घेरे।

आह ! हिम-शीतल सुहानी शान्ति
बिखरी है चतुर्दिक्
एक जो अभिशप्त—वह उत्तप्त अन्तर
दहे ही जाता निरन्तर

बरसते हैं मेघ झर-झर।

कम्पनी बाग़

लतरें हैं, ख़ुशबू है, पौधे हैं, फूल हैं।
ऊँचे दरख़्त कहीं, झाड़ कहीं, शूल हैं।
लान में उगाई तरतीबवार घास है।
इधर-उधर बाक़ी सब मौसम उदास है।
आधी से ज़्यादा तो ज़मीन बेकार है।
उगे की सुरक्षा ही माली को भार है।
लोहे का फाटक है, फाटक पर बोर्ड है।
दृश्य कुछ यह पुराने माडल की फ़ोर्ड है।
भँवरों का, बुलबुल का, सौरभ का भाग है।
शहर में हमारे यही कम्पनी बाग़ है।

एक साँझ

वृक्षों की लम्बी छायाएँ कुछ सिमट थमों ।
धूप तनिक धौली हो,
पिछवाड़े बिरम गयी ।
घासों में उरझ-उरझ,
किरणें, सब श्याम हुईं ।
साखू-शहतूतों की डालों पर,
लौटे प्रवासी जब,
नीड़ों में किलक उठी,
दिशि-दिशि में गूँज रमी ।
पच्छिम की राह बीच,
सुर्ख चटक फूलों पर,
कोंई पर, कूलों पर,
पलकें समेट उधर
साँझ ने सलोना सुख हौले से टेक दिया ।
एकाएक जलते चिराग़ों को,
चुपके से जैसे किसी ने हो मन्द किया ।
दुग्ध-धवल गोल-गोल खम्भों पर,
छत पर, चिकों पर,
वहाँ कँपती बरौनियों की परछाहीं बिखर गयी ।
आह ! यह सलोनी, यह साँझ नयी !

मैं तो प्रवासी हूँ :
ऊँचा यह बारह-खम्भिया महल,
औरों का ।
दुग्ध-धवल आँखों में,

अंजन-सी अँजी साँझ,
कजरारी, बाँकी, कँटीली,
उस चितवन-सी सजी साँझ,
औरों की।
मेरी तो
छज्जों, दरवाजों,
झरोखों, मुंडेरों पर
मँडराते,
घुमड़-घुमड़ भर जाते,
धुएँ बींच,
घुटती, सहमती, उदास, साँझ
और—और—और वह शुक्रतारा !
सुबह तक जिस पर अँधियारे की परत जमी।

कुहू

दिन वीते क़भी इस शाख़ पर
किसी कोयल को कूकते सुना था।

तब से जब भी इस ओर आती हूँ
बार-बार कानों में वही 'कुहू'
गूँजती हुई पाती हूँ।

जैसे मेरे मन के लिए
एक बार पा लेना ही हमेशा की थाती है।
या वह कोयल की कूक है
जो अमराई में छा ही जाती है।

पंख फैलाये

पंख फैलाये
त्वरित गति से अभी जो उड़ गये हैं
मुग्ध विस्मृत कर मुझे
वे अनगिनत जोड़े,
न जाने नाम क्या था,
ग्राम क्या था,
कहाँ से उड़ते यहाँ आये
पंख फैलाये।

शुभ्र लहरों से भरे आकाश-ऊपर
तैरते
वन-हंस, वन-हंसी,
सुनहरे श्वेत पंखी
या कि भूरे और काले,
अजनबी सब नाम वाले
भूलती हूँ
कौन थे जो उड़े नभ में
उतर प्राणों में समाये।

यह अजब सौन्दर्य
केवल एक क्षण का
उन्हें शायद :
वे कि जो हैं कर्मरत
चलते सतत
इस यात्रा में रुक

नहीं जो आँख भर कर देख पाये—
धरा पर बिखरा विपुल सौन्दर्य ।

उन्हीं के हित,
विजन पथ,
आकाश रथ
पर धरे अद्‌भुत वेश,
सुषमा स्वयं आये ।
पंख फैलाये—
त्वरित गति से...

वक़्त

यह कैसा वक़्त है
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो भी वह बुरा नहीं मानता !
जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं
उन्हें कोई नहीं जानता ।
ख़ूब खिले हुए फूल को देख कर
अचानक ख़ुश हो जाना,
बड़े स्नेही सुहृद्‌ की हार पर
मन भर लाना,
झुँझलाना;

अभिव्यक्ति के इन सीधे-सादे रूपों को भी
सब भूल गये
कोई नहीं पहिचानता ।

यह कैसी लाचारी है
कि हम ने अपनी सहजता ही
एकदम बिसारी है।
इस के बिना जीवन कुछ इतना कठिन है
कि फ़र्क जल्दी समझ में नहीं आता –
यह दुर्दिन है या सुदिन है।

जो भी हो संघर्षों की बात तो ठीक है।
बढ़नेवाले के लिए
यही तो एक लीक है।
फिर भी दुख-सुख से यह कैसी निस्संगता !
कि किसी को कड़ी बात कहो
तो भी वह बुरा नहीं मानता !
यह कैसा वक़्त है।

जो व्यक्त नहीं कर पाया हूँ

जो व्यक्त नहीं कर पाया हूँ
वह क्या मेरे मन में नहीं है ?
जो भी सोची जा सकती है
पीड़ा क्या नहीं तन ने सही है ?
वहाँ करुणा की कौन धार उपजी
जो नहीं मुझ तक बही है।
मैंने तो अरे, पा कर लेने को
वह बाँह ही जा गही है।

तुम्हीं ने बटायी थी

क्षण में मन, तपःपूत हो कर—
(ज्यों उठती है
समिधा की शुभ्र ज्योति
हरने को अन्धकार :
पाप-भार)
उमड़ा था !

नयनों में मुक्ता-जल
छल-छल-छल ।
वाणी से फूटा था प्रथम छन्द ।
बिखरी थी दिशि-दिशि में ग्रन्थि
जिसे जड़ता ने युग-युग तक जकड़ा था ।

तुम थे वह,
तुम्हीं ने बटायी थी
असहनीय पीड़ा
उन प्राणों की, निस्सहाय !
भटका जो करती
कान्तार-बीच
व्यर्थ ।
उसे तुम ने दे दिया
अर्थ—
अभिप्राय ।

हम हैं, जो विह्वल है,

बिछुड़े हैं,
एक नहीं कितने ही क्रौंच-युग्म—
भावों के, साधों के।
घेर-घेर मारे हैं बान उन्हों ने, हम को—
निर्दय अहेरी वे, निश्छल अनुरागों के।

निरवलम्ब, आकुल, पथभ्रष्ट बने,
अपनी पीड़ाओं के गीत हमीं गाते हैं,
फिर-फिर दुहराते हैं—

छाँह करे कौन यहाँ—
आहत एकाकी पर
कौन बने समभागी
पर दुख का ?
आहत का ?

पीड़ा देनेवाले इतने बहुतेरे हैं
एक नहीं ऐसा, जो
आ कर बँटा ले उसे !

सुख

रहता तो सब कुछ वही है,
ये पर्दे—यह खिड़की—ये गमले—
बदलता तो किंचित् नहीं है ;

लेकिन क्या होता है
कभी-कभी :
फूलों में रंग उभर आते हैं,

मेजपोश-कुशनों पर कटे हुए
चित्र सभी बरबस मुसकाते हैं,
दीवारें : जैसे अब बोलेंगी,
आस-पास बिखरीं किताबें सब
शब्द-शब्द
भेद सभी खोलेंगी,

अनजाने होठों पर गीत आ जाता है।

सुख क्या यही है ?
बदलता तो किंचित् नहीं है
जो पर्दे—यह खिड़की—ये गमले...

प्रतीक्षा

करूँगी प्रतीक्षा अभी।
दृष्टि उस सुदूर भविष्य पर टिका कर
फिर करूँगी काम।
प्रश्न नहीं पूछूँगी,
जिज्ञासा अन्तहीन होती है।
मेरे लिए काम जैसे
जपने को एक नाम।

मैं ही तो हूँ
जिस ने उपवन में
बीजों को बोया है।
अंकुर के उगने से बढ़ने तक
फलने तक
धैर्य नहीं खोया है।

एक-एक कोंपल की चाव से
निहारी है बाट सदा।
देखे हैं
शिशु की हथेली मसृण
हरित किसलय दल
कैसे बढ़ आते हैं।
दुर्बल कृश अंग लिये उपजे थे
वे ही परिपुष्ट बने
झूम लहराते हैं।
मैं ही तो हूँ
जिस ने प्यार से सँवारी है
डाल-डाल।
आयेंगी कलियाँ
फिर बड़े गझिन गुच्छों में
फूलेंगे फूल लाल
करूँगी प्रतीक्षा अभी।
पौधा है वर्तमान।
हर दिन हर क्षण।
नव कोंपल पल्लव समान
हरियाये, लहराये,
यत्न से सवारूँगी।
आख़िर तो
बड़े गझिन गन्ध-युक्त गुच्छों-सा
आयेगा भविष्य कभी।
करूँगी प्रतीक्षा अभी।

कई दिनों बाद

आज आँख खुलते ही
किरन एक शर्मीली सिरहाने आ डोली,
थपकी-सी मलय-वात
बड़े निकट अस्फुट स्वर में
जैसे कुछ बोली।

देखा तो जान पड़ा—
सुबह नहीं मेरी है।
किसने यह जादू की छड़ी यहाँ फेरी है :
दीवारें !—और ·· और····
अजब-अजब लगता है सभी ठौर····।

धीरे से उठ कर
अपनी ही अंजलि में अपना मुख धर
मैंने बहुत देर अपने से प्यार किया;
कमरे में जैसे हों अतिथि कहीं—
वैसी ही मुद्रा में
सूनेपन को सत्कार दिया।

चंचल चरणों से चल
खिड़की-दरवाज़ों के पार झाँक
जाने क्या देखा····क्या जाना····
काग़ज़ पर निरुद्देश्य
रेखाएँ खींच, बहुत हर्षित हो
जाने किस मूरत को पहचाना····

और तभी कोई ज्यों खिलती है अकस्मात्
कई दिनों बाद लगा
—आज नहीं ख़ाली हूँ !

निश्चय ही मैं
कुछ अच्छा लिखने वाली हूँ ।

■ ■

'मदन वात्स्यायन'

परिचय

•

['मदन वात्स्यायन'—जन्म १९२२। यह छद्मनाम क्यों ग्रहण किया यह बताना कठिन है, सिवा इस के कि बचपन में 'मदन' पुकारा जाता था। यों यह नाम इतना रूढ़ हो चला है कि असली नाम लक्ष्मी-निवास सिंह की ओर लोगों की जिज्ञासा भी नहीं जाती। इस में कुछ सुविधा भी है, क्योंकि लक्ष्मीनिवास सिंह का विषय रसायन-शास्त्र है और वह सिंदरी की विशाल यन्त्रशाला में निरीक्षण का काम करते हैं, जब कि 'मदन वात्स्यायन' कविता-कहानी लिखते हैं। दोनों ही को एक दूसरे से प्रेरणा मिलती होगी, पर यन्त्र-निरीक्षक का कवि होना गुण नहीं माना जाता; और कवि का रसायन-शास्त्री होना दोष भले ही न हो, उस की विचार और संवेदन पद्धति कुछ भिन्न तो हो ही जाती है। फिर 'असुर-पुरी' जैसी कविताओं के लिए यह सफ़ाई देना भी नितान्त अनावश्यक है कि उस का आधार कवि का प्रत्यक्ष अनुभव है।

सन् १९५८ में रूस की सैर कर आये।]

वक्तव्य

नयी हिन्दी कविता, नये वातावरण में पुरानी कविता का प्रसार मात्र नहीं बल्कि एक नया संसार है। उषा देवता से ले कर गधे तक; नग्न यौन-भावना से ले कर सामाजिक क्रान्ति तक, देहाती अमराई से ले कर कल-पुर्ज़ों तक, अवचेतन से ले कर स्थूल के अनुत्तेजित चित्रण तक इतना व्यापक विस्तार शायद पहले किसी 'वाद' की कविता का न हुआ। शेक्सपीयर और शेली भी अपने देश के वैज्ञानिक, औद्योगिक और वैभव के उत्थान के युगों की ही देन थे। जहाँ भी विश्वास होगा, ऋचाएँ उतरेंगी; तेज होगा, महाकाव्य रचे जायेंगे; स्नेह होगा, गीत बनेंगे।

यदि नयी कविता की ऊपर को बाढ़ अभी कुण्ठित लगती है, तो अक्षमता हमारे कवियों की नहीं, पूँजी के और अ-समाजवादी राजकीय नियन्त्रण के विष-वपन से निस्तेज हमारे आज के समाज की है।

जार्ज टॉमसन लिखते हैं: 'ह्वाट डज़ बिग बिज़िनेस केयर फ़ॉर पोएट्री ?' —बड़े उद्योगों को कविता की क्या परवाह है? मैं इस में जोड़ूँगा; सरकार के सेक्रेटरी को भी कविता की क्या परवाह है? और श्रीमान् सत्ताधिप अभी यही दो हैं – दोनों के दोनों 'जन-नायक' पर इतने अ-स्फूर्तिप्रद कि दर्शन मात्र से दिल बैठ जाता है। मेरा मतलब सिर्फ़ दरबारी भरण-पोषण से नहीं है। सहस्रार्जुन की तरह पूँजी और फ़ाइल ने दिशाओं को जीत लिया है; हम-से हर एक व्यक्ति पर वे छा गये हैं; ऋषियों को साँस लेने की जगह नहीं। स्नेह सोख लिया पैसे ने; फ़ाइलों ने हमारा तेज़ हर लिया; और विश्वास तो न पूँजी को है, न फ़ाइलों को। इतनी निस्सहाय कविता कभी नहीं हुई।

मगर जहाँ तक नयी कविता का सवाल है, उस में प्रेय और प्रेक्षणीय बहुत कुछ है। मेरी भाँप है कि शायद कोई भी प्रकाशित हुई कविता ऐसी न होगी जिस में कम से कम कुछ एक 'बात' न हो। पुरानी तुकबन्द कविता के युगों में बात-युक्तता का औसत स्तर कदाचित् इतना ऊँचा न था।

'मदन वात्स्यायन'

ग्रीष्म के आकाश में बादलों की तरह, पुराने हिन्दुस्तान में नया वातावरण सहसा उमड़ पड़ा है, और उस के नये सत्य को ग्रहण करने में नयी कविता चारों ओर अच्छे-बुरे पौधों के बेतरतीब बरसाती जंगल-सी उग आयी है। कहीं करुणा की झाड़ी में हास्य की डाली घुसी पड़ती है, कहीं वीर रस के पेड़ पर श्रृंगार की लता छायी है, कहीं एक ही पौधे में दो डालियाँ हैं दो अलग-अलग जातियों की। इस जंगल में बहुत-से पौधे तो पहलेवाले भी हैं, पर इस-उस कोने में झाँक-फूँक करने पर जो नयी जातियाँ मेरे हाथ लगीं उन्हें दो मोटे वर्गों में बाँटा जा सकता है : मायावादी—जिस में बुद्धि का विलास प्रधान है (और जो ही समालोचकों के वाग्बाणों का मुख्य लक्ष्य होती हैं), और कायावादी, जिन में नये रसों की सृष्टि हुई है।

मायावादी रचना के प्रधानतः तीन प्रकार दीखते हैं। जैसे :

१. विशुद्ध मायावादी, यानी जिन की उक्तियों में खरोष्टी न्याय ही प्रधान है, शब्दों के सर्कस का ही मुख्य आग्रह, और जिन की बातें जल्दी समझ में नहीं आतीं।

कल्पवृक्ष के तले दर्पण-सो साफ़ बुद्ध-प्रतिमा को
मुह-दुस्सा मुँह बिराता है
और कहता है कि
देखो-देखो, इस की नाक कैसी टेढ़ी है !

'क़ाँटों का ताज' के बदले 'काँटियों का मौर' की तरह ये कविताएँ इतिहास, इस्तेमाल, निजी अनुभव, परिचित भाव ('ताज' में जन-नायकत्व का) सब का सहारा छोड़ कर जन-बुद्धि से इतनी दूर जा पड़ती हैं कि नवीन और चमत्कारपूर्ण होने की बजाय निरर्थक और निर्बल हो रहती हैं।

२. निर्वेग-बौद्धिक : इन कविताओं का वर्गीकरण मनुस्मृति और सांख्यसूत्र की परम्परा में होना चाहिए, वाल्मीकि और व्यास की परम्परा में नहीं। इन का सन्देश शायद सीधे गद्य में अधिक स्पष्ट और सफल भी हो। जैसे :

ब्रह्मास्त्र-विस्फोट गौरव था,
अणु-विस्फोट गर्हित है :
इतिहास के किस कोने में है चाँदनी की वकालत ?

पटना से प्रकाशित 'कविता' (२) में सम्पादक सुकवि 'सेवक' से उन के मित्र ने पूछा, 'कविता आगे किधर जायेगी ?' तो उन्होंने उत्तर दिया : 'आइनस्टाइन की ओर।' बुद्धिवादिता का यह चरम रूप है। किन्तु 'सेवक' जी की अपनी कविताओं में पर्याप्त भावुकता रहती है। 'उषागान' की पहली पंक्ति है :

तिमिर चीर कर उन्मना-सी कहीं से
किरण कुमारी चली आ रही है।

३. 'ऊब-रस' की 'कविताएँ' : क्या ऊब में भी रस है ? कवियों को निरंकुश कहा है, निश्चेष्ट नहीं।

छायावाद के शायद चार प्रकार हैं। जैसे :

१. नया श्रृंगार : इस का व्यापक नया रूप एक परासीमा पर अनंग देवता के अवस्त्र (रीतिवादी) आवाहन तक पहुँचना है—जैसा मेरी अपनी कुछ पंक्तियों में भी हुआ है। किन्तु उस से इधर एक सजीव नयी मांसलता है, जिस में नायक केवल नायिका का माशूक़ न रह कर अब स्वयं उस का आशिक़ है। जैसे :

ये शरद के चाँद-से उजले धुले-से पाँव
मेरी गोद में !
ये लहर पर नाचते ताजे कमल की छाँव
मेरी गोद में !

—धर्मवीर भारती

नये श्रृंगार के दूसरे छोर पर है धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-निरपेक्ष स्वकीया का वह आकर्षण जो भी शायद नितान्त इस की अपनी चीज़ है। जैसे :

खत निजी अखबार है घर का
अकेले का सहारा है
मुहब्बत-दोस्ती की सुख-निशानी है,
प्रिय की याद ताज़ा है
किसी की उँगलियों गूँथी
सँवारी अक्षरों की डोर
तन के बीच पंखुरि पुल
उन से मिलन आधा है—

—गिरिजाकुमार माथुर

२. नयी करुणा : मृत्यु और दुर्भाग्य का आज का आदमी आदी हो गया है। दारिद्रय की दवा भी अब दान-दया नहीं, पंचवर्षीय योजना है। आज का विषाद कुछ और तरह का है, अकसर ही व्यंग्य-युक्त। इस रस की भी बड़ी सुन्दर चीज़ें कही गयी हैं। जैसे :

सांप, तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया;
एक बात पूछूँ—उत्तर दोगे—
फिर कैसे सीखा डसना—
विष कहाँ पाया ?

—'अज्ञेय'

इस रस से नयी कविता का एक बड़ा अंश अभिव्याप्त है।

३. नया वीर रस : प्रकाश को, आदमी की मेहनत को, और पुराने बन्धनों को तोड़ ले नये निर्माण के रास्ते पर चले आने वाले नये मानव के दिव्य रूप को, नयी कविता ने बड़े सशक्त ढंग से बाँधा है। यह भी नयी कविता की अपनी विशेषता है। उदाहरण :

जब तुम्हें ऐसा लगे तुम अकेले हो,
और बादल घने काले शीश पर घिरने लगे हैं,
जब तुम्हें ऐसा लगे तूफ़ान की गति
तेज़ हो कर, अभी तक के सहारे गिरने लगे हैं,
उस समय तुम हड़बड़ा कर दुःख
मत बोलो कि ऐसे शब्द सूरज ढाँकते हैं
और वे तूफ़ान की ताक़त बढ़ा कर आँकते हैं

—भवानीप्रसाद मिश्र

३. नया शान्त रस : अर्थात् असम्पृक्त रस की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी या अन्य कविताएँ, हद से हद सहज आनन्द तक की; ललकार-रहित सुझाव; आदि—व्यापक विस्तार है। यथा :

वर्षा का मौसम गया बाढ़ भी साथ गयी,
जो बचा शेष वह स्वच्छ नीर का सोता है।
अब चाँद और तारे इस में निज को देखें :
आसिन का जल बिल्कुल दर्पण-सा होता है।

—'दिनकर'

अथवा

डरो न इन से :
शब्द हमारे बन्द कोष में,
बँधे अर्थ की ज़ंजीरों से,
बेबस हैं अब :
कटे-छँटे हैं, रँगे हुए हैं इन के पैने नख
जिन्हें दिखा देंगे फ़ौरन, आज्ञा पाते ही,
और दिखा कर
बड़े हर्ष से पूँछ हिलाते खड़े रहेंगे
शब्द हमारे रक्तहीन ग्रन्थिक भाषा के :
डरो न इन से ।

—बालकृष्ण राव

शब्द और लय :

आवेग-प्रधान होने के नाते कविता का लययुक्त होना ही समीचीन है। लययुक्त हो कर ही वह याद रखी जा सकती है और अकेले में या समवेत रूप से गायी जा सकती है, और इस तरह मौक़े पर हमारे मन में धँस कर हमें प्रभावित कर सकती है। अकुलाये हुए भावों के मोचन के बाद हृदय के स्वस्थ और हल्का बन जाने में भी सामाजिकता है; प्रेरणा, उत्तेजना आदि में तो है ही। लय के लिए हमें शास्त्रीय रागों से ले कर सिनेमाई गानों की धुनों तक कोई भी सुन्दर लय त्याज्य न समझनी चाहिए। सुन्दर शब्द और सुन्दर राग का सामंजस्य संस्कृत और मध्यकालीन हिन्दी कविता में भी रहा है, उर्दू और बँगला में तो है ही। लय की उपेक्षा कर के उस के प्रभाव और उत्तेजना को बनाये रखना कठिन है। कई नयी हिन्दी कविताओं में छोटी-छोटी बे-तरतीब पंक्तियों के कारण और भी गत्यवरोध होता है; गद्य की गति भी हाथ नहीं लगती। घोड़ा सवार पर चढ़ बैठता है, आवेग को बौद्धिकता ढक देती है, कविता पर गद्य हावी हो जाता है।

शब्दातिरेक और फ़ालतू शब्दों का उपयोग भी कविता का शत्रु है। छन्द और लय के बन्धनों से छुट्टी पा कर शब्द सस्ते आने लगते हैं और बात अपनी सघनता खो कर फीकी पड़ने लगती है।

भाव और रूप-प्रतीक :

संगीत से बहुत-सी नयी कविता दूरतर जा रही है, यह शोचनीय हो सकता है। पर भावों का अटपटापन अपने-आपमें कलंक नहीं है। हो सकता है कि हम भक्ति, रीति आदि के ऐसे बन्द कमरे में बराबर रहे हों कि अचानक पहले-पहल टूटी दीवार से बाहर झाँकने पर सड़क के पार वाली दूकान 'अप्रत्याशित' लगे। ग्रामगीतों के खुले वातावरण में गोरी से ले कर धोबी के गधे तक के गीत हैं। ग्राम-गीत में जैसे 'रेलिया सवतिया मोर पिया लइ के भागी' मिलता है वैसे चूड़िहारिन और दर्जिन देव और बिहारी में मिलती हैं, रूपवती चाण्डाली वाणभट्ट में। बिहारी ने वयः-सन्धि की उपमा धूप-छाँह कपड़े से दी है, प्रिय की ओर टकटकी की दिग्दर्शक चुम्बक यन्त्र से, प्रेम करने की पोलो खेल से, विनयी आदमी की नल के पानी से, इत्यादि। न सूखने वाले जल की उपमा वैदिक ऋषिने 'जीभ के जल' से दी थी (ऋ० १।८।७), आग की लपटों की 'सींग घुमाते हुए पशु' से (ऋ० १।१४।०६) और एक-एक दिन ह्रास करनेवाली उषा की व्याध-स्त्रीसे (ऋ० १।९२।१०)। छेद में पड़ी बड़ी कील को पतली कील से ठोक कर निकालते हैं, रूपक के लिए यह अनुभव अश्वघोष को त्याज्य नहीं था। कालिदास का तो सारा का सारा 'मेघदूत' ही एक अनूठा प्रयोग है।

नयी कविता की नायिका और वादों की नायिकाओं से मोहक कम नहीं है, और सशक्त ज़्यादा है। देर है सँवारने की। यह नहीं भूलना चाहिए कि समाज के हमारे नये धरातल पर अगर टिकी है तो 'नयी कविता' ही। पहले की अप्सराएँ कहाँ हैं ? जाड़े के घने नीले आकाश में उड़ते धवल हवाई जहाज़ के सौन्दर्य का वर्णन किस 'वाद' में हो ?

यह अब रूढ़ हो चला है कि 'प्रयोग का अपना कोई वाद नहीं होता' (—'अज्ञेय')। हिन्दी कविता को अगर समाज-सापेक्ष्य संस्कारज अविच्छिन्न धारा, और (एकान्तिक मनो–) विकारज तलैयों के दो वर्गों में बाँटें, तो 'नयी कविता' का बहुत-सा अंश वीरगाथाओं, ग्रामगीतों, सगुण-भक्ति-काव्यों, मैथिलीशरण गुप्त और 'दिनकर' की कविताओं के साथ पहले वर्ग में चला जायगा, दूसरा बहुत-सा अंश रीतिकाव्य, निर्गुणिया साहित्य, छायावाद आदि के साथ पिछले वर्ग या वर्गों में।

एक तरफ़ तो इस आधुनिक अटपटेपन की शिकायत की जाती है, दूसरी ओर कहा जाता है कि साहित्य में गत्यवरोध है। पुराने क़िले से

निकल कर आज का साहित्य अगर बाहर भटक भी रहा है तो उस में 'अवरोध' कैसे है ? नये अंकुरों की फ़सल के लिए फ़सल-भर के चार महीने का वक़्त तो दीजिए ! नयी चीज़ के बीज हैं; पुश्तैनी अनुभव नहीं है; मौसम बदल गया है; बैल न रहे, ट्रैक्टर हैं; खाद नहीं, फ़र्टिलाइज़र है; उतनी फ़ुरसत भी नहीं रही—खेती ही नहीं, पंचायत है, चुनाव है, गाँव में शहर घुसा आ रहा है ! 'आशिक़ी सब्रतलब और तमन्ना बेताब !' (—'ग़ालिब')

अकथा और कथा :

कथा-काव्य का अपना अलग आवेगमय स्थान है जो उपन्यास नहीं ले सकता। कथा-काव्य अंगूर का गुच्छा है (दो-चार दाने जेब में भी रख लें), उपन्यास आम की इकाई। गीति-काव्य से भी कथा-काव्य की जीवन-शक्ति ज्यादा है, क्यों कि इस के पास सुन्दर कथा और सुन्दर कविता दोनों की सम्मिलित ताक़त है; समर्थ कवि को अपना जौहर दिखाने के लिए ज्यादा गुंजाइश मिली है। दीर्घायु कथा-काव्य के शायद कुछ ज़रूरी अंग हैं : देश का कोई 'बड़ा' जन-नेता, कथा वस्तु की स्वतन्त्र रोचकता, स्त्री-पुरुष का प्रेम, शोक और शौर्य का संघर्ष, जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी मर्म-स्पर्शी घटनाएँ और संवाद, मानवीय मूल्यों का आग्रह, और—साधारण आकार के पाँच-छह सौ पृष्ठ ! नयी कविता को पास ही महान् घटनाएँ मिल जायेंगी—बिरसा भगवान् का विद्रोह, नेताजी और आज़ाद हिन्द फ़ौज की गाथा, अगस्त क्रान्ति, कश्मीर की प्रतिरक्षा; और हमारा यह विराट् आधुनिक महाभारत—कांग्रेस के नेतृत्व में स्वतन्त्रता-संग्राम और नव-निर्माण।

वृत्त और त्रिकोण :

वृत्त—यानी असंयत व्यवहार से शब्दों का घिस-घिसा कर व्यक्तित्व रहित और पानी में के पत्थरों की तरह गोल-मटोल रूप ले लेना; त्रिकोण—यानी शब्दों का वैज्ञानिक नपा-तुलापन और अर्थ-क्षमता। बारीक, नपे-तुले आकार को मूर्त करने वाले शब्दों से अनुभव को ग्रहण करने की भी शक्ति बढ़ती है, व्यक्त करने की शक्ति तो बढ़ती ही है। बच्चे की

तरह स्पर्श, गन्ध आदि सब को 'अच्छा' या बुरा दो ही विभागों में न बाँट कर स्पर्श को सर्द, गरम, कोमल, कठोर, तीखा, चिकना, रोमांचक आदि, और गन्ध को कसैला (कमल, आम की मंजरी, स्वस्थ मुँह), मीठा (महुआ, कटहल), स्निग्ध (तैल युक्त-चमेली, जुही, गुलाब], तीखा (शेफालिका), शान्त (सोंधापन, शिरीष, बिस्कुट) आदि गुण-विशेष के साथ जानें तो जानने का आनन्द भी बढ़ता है और जान कर कहने की ताक़त भी, याद भी ।

मुझे इन की भाषा विशेष पसन्द है : विनोबा (संक्षेप, तीखापन) कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (ज़िन्दगी की मुसकराहट), 'दिनकर' (ओज और प्रसाद), 'अज्ञेय' (अभिप्रायपूर्ण शब्द-शिल्प) ।

मेरी अपनी कविता:

कविता को बनाना कुछ स्वप्न रचना के ढंग से होता है । यानी अतिचेतन [सुपर-कांशस] के नियन्त्रण के बावजूद, या उस की अनुज्ञा से, अवचेतन इच्छाएँ ज़ोर मार कर चेतन की भूमि पर चल निकलती हैं । पर जब यों चल निकलती हैं तो चेतन भूमि के उतार-चढ़ाव के अनुसार ही बहती हैं । हर कवि के लिए यह भूमिचित्र अपना-अपना होता है, और उस के संस्कारों और पिछले अनुभवों से बना होता है ।

इन सब बातों का बारीक़ विश्लेषण मनोवैज्ञानिकों का काम है, कवि का नहीं । कवि अपनी कविता के 'क्यों' और 'कैसे' की अत्यधिक छान-बीन करने लगे तो उस की हालत उस गोजर-जैसी हो जाये जिस से किसी ने पूछा कि चलते वक़्त पहले तुम कौन टाँग उठाते हो ? गोजर ने तब तक इस पर सोचा न था, पाँव अपने-आप उठा करते थे; अब जब जाँचने के लिए सोच-सोच कर पाँव रखने लगा तो हो यह कि एक पाँव उठे और बाक़ी निन्यानबे लड़खड़ा जायें ! कहते हैं कि गोजर फिर कभी चल ही नहीं पाया, कवायद करता वहीं मरा ।

कविता अतिचेतन के घर की चीज़ नहीं, इस का एक छोटा-सा सबूत यह भी देखिए । मेरी 'शिफ़्ट फ़ोरमैन' की कथा जब दिमाग़ ही में थी तब उस का नक़्शा कुछ ऐसा था कि फ़ोरमैन क्वार्टरपर लौट आयेगा और कृतकर्मता के आनन्द से उस का दाम्पत्य उस सुबह कुछ ज्यादा सुन-हला हो उठेगा । शायद यह 'सामाजिकता' के लिए अतिचेतन की हिदा-

यत थो। मगर जब मैं लिखता हुआ अन्त की ओर तक पहुँचा तब, याद है, इस की अनपेक्षित वासना ने मुझे अभिभूत कर लिया :

मेरे चार्जमैन चल पड़े, मेरे आपरेटर और हेल्पर चल पड़े,
मैं कामधेनु की एक टाँग से जा लिपटा।

अतिचेतन और अवचेतन के द्वन्द्व के बीच भाव कुछ बिजली के धक्के की तरह सहसा आते हैं। एक चित्र आया, और अनुभवों की पिटारी में-से दूसरे चित्र सूत्र में गुँथने लगे। यह हुआ कविता का गर्भाधान; जन्म चाहे नौ क्षण बाद हो चाहे नब्बे साल बाद। एक तो यों कि जब बुलबुल गाने लगे तो उसी वक़्त कारखाने का भोंपा भी बज पड़े—काम पर जाने की तैयारी में कवि-देह की व्याकुल गति के साथ आकर्षण और विकर्षण के इन दो स्मृति-प्रवाहों की टक्कर के बाद बिखरा-सा सामान पड़ा रह जाये; आगे फ़ुरसत के समय जब कुछ बनने लगे तो उस में से छाँट-बीन कर पुर्ज़े-वुर्ज़े नट-बोल्ट के सहारे जोड़ लिये जायें।

अन्त में यह सकार लूँ कि एक किशोर कवि था, मदन, जो बहुत दिन हुए मर गया—उस की कापियों में-से बहुत कुछ ले कर व्यापारिक दृष्टि से हेर-फेर कर पचा लेता हूँ। जैसे 'नया मेघदूत' इत्यादि।

'मदन वात्स्यायन'

उषा-स्तवन

मेरे हाथ में जुए की एक और बाज़ी की तरह, उषे,
तुम फिर आ गयी हो !
हारी हुई बाज़ियों ने जब मुझे परेशान कर रखा था।
मुझे तबाह कर रखा था,
खाये डाल रही थीं मुझे,
उस वक़्त मेरे हाथ में एक बार और ताश के पत्तों की तरह, उषे,
तुम फिर आ गयी हो !

आसमान के कोने से कढ़ चारों ओर फैल रहा है
बीती हुई रात के अन्धकार में सना,
आती हुई दोपहर के भयों से छना,
तेरा आशामय प्रकाश !
उषे, ओ उषे !
किस ने कहा कि तुम आयु का एक-एक दिन ह्रास करती हो ?

चोर तो साँझ है।
माँ की गोद से एक बार और उतार कर,
कालेज से फ़र्स्ट क्लास की डिग्री एक बार और हाथ में थमा,
फिर से जीने के लिए देती हो एक नयी ज़िन्दगी तुम तो !

दुःस्वप्नों से थरथराती होती है मेरी रात।
हाथों से फिसलती दोपहर, कोने में दुबकती साँझ बिसूरती
कि आज फिर न आया हाथ दिन।

पर तुम आज तक मुझे कभी भी कटु नहीं हुईं।
दिवास्वप्नों-सी तुम निरन्तर मधुर हो,
ओ सुनहली !

: २ :

जिस के स्वागत में नभ ने बरसा दी हैं जोन्हियाँ सभी,
और बड़ ने छाँह बिछा डाली है,
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है।

पत्तों की श्यामता के द्वीप डुबोते हुए हुस्न-हिना के
गन्ध-ज्वार-सी
हरित-श्वेत जो उदय हुई है,
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है।

एक वस्त्र चम्पई रेशमी, उँगली में नग भर पहने
स्नानालय की धरे सिटकनी—
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है।

क्षण-भर को दिख गयी दूसरे घर में जा छिपने के पहले
अपने पति से भी शरमा कर,
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है।

: ३ :

मुझे पूरब की एक डायन से मुहब्बत है।
वह अप्सरा है, उस का कभी ब्याह नहीं हुआ,
उस के प्राण घर-द्वार की बलिष्ठ वल्गा से निर्बन्ध हैं।
मुझे पूरब की एक डायन से मुहब्बत है।

सुबह के प्रकाश में वह अलबेली अरुणाभिसारिका
ख़ाली पैरों चुपके आ कर मेरी खिड़की से झाँकने लगी।
मुझे पूरब की एक डायन से मुहब्बत है।

शत-शत सोतों में बह रहा था तकिये से उतर कर मेरी
पत्नी के केशों का अन्धकार,
उस ने सीखचों में हाथ डाल कर उन केशों को ही पकड़ लिया!
मुझे पूरब की एक डायन से मुहब्बत है।

जब मेरी पत्नी का नींद उचटने लगी तो हरिणी-सी भाग भी
खड़ी हुई।

पुकार कर कहती गयी, कल फिर आऊँगी। मैं ठहर पड़ा।
मुझे पूरब की एक डायन से मुहब्बत है।

: ४ :

प्रकाश और छाया की सन्धि पर
श्याम-शुभ्र क्षीर-सरोवर के तीर पर मैं ने उषा-देवता
को देखा था।

श्वेताभ-नील सौगन्धिक पर वह खड़ी थी,
धवल-सुनहली शेफालिका के पहने गहने।

सफ़ेद-हरे अंगूरी वस्त्र ने
पतले कुहासे-सा उसे आधा ही ढँक रखा था।

वह हँसी
मानो गुलाबी बादलों को भेद कर वासन्तो चाँदनी
चमक उठी हो;

और सरोवर में कूद गयी—
अपनी डूबती बायीं उँगलियों में फिर आने का इशारा लिये।

: ५ :

अरे रे, किरणों की कोसी ने अपने कगारे ढहा दिये हैं,
दूर तक सर्वत्र वेग से टूटता पानी उमड़ता-घुमड़ता चारों
ओर फैल रहा है।

अन्त तक स्थिर बलता वह एक अकेला शुक्रतारा दीप
दो अंगुल, चार अंगुल, दस अंगुल, रोशनी में धीरे-धीरे
डूब जाता है।

: ६ :

स्वस्ति, स्वस्ति तेरा आना!
ओ रोशनी की बेटी, आसमान की हरिणी, किरणों
के केश वाली।

सपनों के आँचल वाली ! देवताओं की ईर्ष्या, मनुष्यों की आशा,
राक्षसों की विपत्ति ! अमीरों की अनदेखी, ग़रीबों की मसीहा !
विद्युत्-वर्णा ! वीणावादिनि ! शक्तिदा ! सुप्रभा !

स्वस्ति, स्वस्ति तेरा आना !

शुक्र तारा

नये दूल्हे-सा सूरज, नव-वधू-सा पीछे-पीछे यह
शुक्रतारा जा रहा है।

बदल रहा है रंग आसमाँ का क्षण-क्षण,
बदल-बदल यह जगमगा रहा है।

इंजन के हेडलाइट-सा, शोर-ग़ुल के बीच
सूरज निकल गया।

गार्ड की रोशनी-सा पीछे-पीछे गुमसुम अब
शुक्रतारा जा रहा है।

हमारी बस्ती में दिये-से, बल्ब-से (पेट्रोमैक्स-सा चाँद),
चारों ओर बल उठे तारे।

दूरी में बैलगाड़ी की लालटेन-सा यह
शुक्रतारा जा रहा है।

शहर को अँधेरा कर, हवाई जहाज़ से
मिनिस्टर चले गये।

'जनता' से एम० एल० ए०-सा पीछे-पीछे यह
शुक्रतारा जा रहा है।

कि भटक न जायँ, राहगीरों की ख़ातिर
शाम को जला के मशाल अब शुक्रतारा जा रहा है।

तपता सूर्य गया, चिल्लाते 'राह दिखाते' कौड़ियों-से
सितारे दौड़ आ भरे।

अपने सब कुछ की रमाने धूनी अब क्रान्ति-द्रष्टा
शुक्रतारा जा रहा है।

है नेहरू एक वतन का प्यारा, सताये हुओं को है
जिस पर भरोसा।
हमारी आँखों में अब भी चमक है, कि बीच आसमाँ में
वह सितारा जगमगा रहा है

बीवी, सजा दियों का थाल लाओ, ज्योति भर लो।
कि हमारे आसमान को सूना कर के, रश्के देवता यह
शुक्रतारा जा रहा है

सुशिप्रा की वर्षगाँठ पर

१. नख-शिख

आकाशगंगा में न बहते दीप होते हैं,
न ऊषा की पहली किरण से कोई रंग;
प्रिये, दोनों ओर तेरे काले बालों के
बीच में तेरी माँग है।

रूप-सागर के तीर पर मेरी कल्पना ने सुना, प्रकृति-श्री
कह रही थी—
रूपवानों में मैं नारी हूँ,
नारी के अंगों में नाक
नाकों में सुशिप्रा की नासिका !

चाँद में है
ठंढी रोशनी;
पुतलियों में तेरी

अन्धकार चमाचम
उस के पत्ते सारी ज़िन्दगी लाल किसलय रहते है
जिन की कोरों में खिलती हैं बारहों मास बेलियाँ—
प्यारी, अलका के नाज़ुक वसन्त के
या तेरी हँसो के।

बेली की कोंढ़ियों-जैसे तेरे नन्हें-नन्हें हाथ,
जो मेरी अंजलि में बसते थे।
माँ के डैनों-तले
चूज़ों-जैसे।

बे गहनों के तेरे गोरे अंग हैं,
और बे बेल-बूटों की तेरी श्वेत साड़ी;
चारों ओर उजले बादल हैं
और ग्लावा चमक रही है।

२. ऋतु संहार

मेरे हाथ के अबीर से यह अभी तक लाल है,
और बेली की कोंढ़ियों की मेरी माला से अभी तक सुगन्धित;
तकियों के बीच में पड़ा यह लम्बा बाल
प्रिये, तेरे वियोग में मुझे डँस रहा है।
वही शिद्दत, वही दुपहर, वही कछमछ, वही शोले—
और तब वही ठंढी बयार!
प्रियतमे, बस तू नहीं है—
और वह बात नहीं है।

न तहज़ीब से, न शर्म से, न नज़ाकत से, बँधे,
उठे जो कोने से तो भरभराते भर गये बादर,
बरस पड़े—
गोया कि तेरे वास्ते ओ प्रिय, हमारा प्यार हों।

तूने जो वह हरसिंगार की माला टाँग दी थी,

उस का एक-एक सूखा कण उड़ गया;
कि हमारे सोने के घर की दीवाल पर काँटी से
आज भी लटका है
मकड़ी की डोर-सा पतला उस का तागा।

शरद और फागुन-चैत के बीच
उफ़, कैसी यह सन्-सी लग रही सर्दी !
तेरे ओठों से जैसे कि निकला था,
'कल जाऊँगी।'

३. विरह वर्णन

रोज़ शाम को जो तू धूपबत्तियाँ जलाया करती थी
उन की राख धीरे-धीरे उड़ गयी है;
वहाँ खिड़की के सिल के चूने पर एक मटमैले धब्बे से,
पर आधी रात को मेरे इस कमरे में आज भी सुबास है।

जानती हो ? हवादार झिल्ली के सिल पर जो तुम ने
खड़ों के अँटकने के लिए बाँधे थे तार,
वहाँ का गौरैया का बच्चा कल से
उड़ के तेरी तुलसी की डाल पर बैठता है।

कल आँगन में से उखाड़ कर एक छोटी मूली
ले आया शाम के नाश्ते पर रामू;
अभी अज्जू थी, तीखी न हुई थी,
पर आँखें भर आयीं।

कभी जो तबीयत उदास रहती है,
तो दो-तीन रोटियाँ भी गले से उतरती नहीं;
कहीं जो रामू दे जाता है अँचार,
तो पूरी एक भी नहीं खाता।

आज भी सुलाते हैं मुझे पड़ोसिन के बिहाग,

आज भी जगाती है मुझे ऊषा चहकती;
बस रामू को पुकारती एक पतली आवाज़ नहीं है
और कुछ भी नहीं है।

अभी तेरी छुट्टी के पैंतीस दिन हैं—
अगर दो दिन की छुट्टी ले कर लिवा लाने
चला जाऊँगा तो तैंतीस,
अब आज तो बीत ही चला, बत्तीस समझो,
कल दिन-भर व्यस्त हूँगा तो इकतीस, गोया एक मास,
तीस रोज़ !

स्वस्ति, मेरी बेटी

ऊनी रोएँदार लाल-पीले फूलों से
सर से पाँव तक ढका हुआ
मेरी पत्नी की गोद में
छोटा-सा एक गुलदस्ता है।

फव्वारे की धाराओं में कमल के लाल फूलों को हिला-हिला कर
बाग़ हँस रहा है,
जैसे कोई बे-दाँत का बच्चा अपने मखमली हाथ-पाँव
फेंक-फेंक कर आनन्द व्यक्त कर रहा हो—
'अद्भुत एक अनूपम बाग !'

बड़े-दिनों में चित लेटी थी
होली में मेमने-सी ठनमनाती थी,
अब इस असाढ़ में तू खड़ी है—
बेटी, तू आदमी है या मालती की बेल है !

'मदन वात्स्यायन'

मैंने एक चंचल खरहा पकड़ा है।
सोने की जूही की दो डालों के झूले में इस का घर है।
दो पाँवों से ठुमकता आता है, चार पाँवों से भाग जाता है,
घर पर चढ़ के हँसता है मुझे देख कर।
कोई कहता है, योगिराज शिव को भी मुग्ध करने वाली
तपस्विनी-वेष में देवी पार्वती ही सर्व-सुन्दरी थीं,
कोई कहता है, साज-शृंगार सहित माँ जानकी ही सर्वसुन्दरी
थीं, जिन के रूप पर नारियाँ भी ईर्ष्या छोड़ मोह गयीं,
तो यह जो माँ के हाथों से फिसल कर, साबुन में सनी नंगी
मेरी ओर किलकती भागी आ रही है—
क्या उस से भी सुन्दर ?

मेरी बेटी, तेरे दुश्मनों की क़सम
सप्तर्षि-जैसे तेरे सातों दाँतों का हँसना मधुर है।
मुझे पर आज भी याद आता है
शुक्र-तारे-सा तेरा वह एक दाँत !

कोई मोल लेगा रे, कोई मोल ?
मेरी सात दाँतों वाली बेटी को कोई मोल लेगा रे ?
इस के हीरे के हँसते चार दाँत नीचे हैं, ऊपर मोती के
मुसकराते तीन दाँत,
मेरी अनमोल को मोल लेगा रे, कोई मोल ?

हाथों से छूट कर क़लम मुझे मिल गया है,
नारद के पाँव ठमक गये हैं, सकलंक चाँद-सी आँखें गोल हैं,
चुनियाये जा कर ओठ गुलाब की हँसती हुई कोंढ़ी बन गये हैं—
स्वस्ति फू-फू कह कर चाय माँग रही है।

मेरे आँगन में धान का बिड़ार है सुकुमार।
सुबह की पहली आद्या चम्मच चाय इस को चढ़ती है।
पहली बूँट-बराबर डबल रोटी इस का ग्रास है।

मेरे आँगन में कलेजे का टुकड़ा है, सुकुमार।

कलेण्डर दिसम्बर तक फटा है, ग्लास चनके हुए हैं, किताबों
के पन्ने फट-फट कर एक-दूसरे में मिल गये हैं,
कान टूटने से प्यालियाँ कटोरियाँ बनी हुई हैं,
दीवालों पर लाल-काली मकड़ी-जालियाँ लिखी हैं,
टेबल-लैम्प में न बल्ब है न छतरी, मौसमी
फुलवाड़ी में सिर्फ़ डण्ठल और डाल हैं;
शिशु हाथी की सूँड़-जैसे चंचल हाथों वाली मेरी लक्ष्मी
वहाँ एक महीने रह कर गयी है।

ओ नियति की ईर्ष्या-भरी आँखो,
मेरे आँगन में झाँकना बेकार है।
एक पुराना टेबल है, दो-चार कुरसियाँ हैं, चनकी प्यालियों
में चाय है, टूटी तश्तरियों में बिस्कुट,
और बतिया ककड़ी-सा दुबला-पतला, साँवला एक
बेटी-बच्चा है।

पिछवाड़े घूरे पर पड़ा था,
ठण्डे चूल्हे में पला है,
ललाट पर, आँखों में, हाथों और पेट पर, कालिख ही
एक श्रृंगार है,
मेरी पत्नी इसे बुहार कर रोज़ बाहर फेंक आती है।
खाता है क्या, पीता है क्या,
कितनी जगह घेरता है ?
दुत्, पड़ी रहने दो, फूटी कौड़ी है
बेमोल की।

दो बिहाग

१. संयोग

गोरी मोरी गेहुँअन साँप महुर-धर रे
गोरी मोरी गेहुँअन साँप ।

फागुन चैत गुलाबी महीने, दोंगा,[1] पर आयी जैसी चाँद,
लहरे वात, गात मद-लहरे, गोरी मोरी गेहुँअन साँप।

गोरे गात रश्मि-वत पतरे, रेशमी केंचुल चमाचम,
कबरी (–छत्र) कुसुम-चितकबरी, गोरी मोरी गेहुँअन साँप।

टोना नैन, तरंग अंग में, रोक ली रात मेरी राह,
लिपट गयी अंग-अंग लपट-सी, गोरी मोरी गेहुँअन साँप।

अधर - परस - आकुल मन मेरा आँगन घर न बुझाय,
निशि नहीं नींद, न जाग दिवस में, गोरी मोरी गेहुँअन साँप।

२. वियोग

दूज की चाँद ये आयी, आयी गोरी रे याद तेरी

यह गंग-मूल बसे, तू पटना, दौड़ी-दौड़ी आयीं जोन्हियाँ,
शोहरत छायी जो आयी, आयी गोरी रे याद तेरी।

महीन लकीर लिखी मुख - आभा, दीप्त लकीर हँसी,
तू नख - शिख मुसकायी, आयी गोरी रे याद तेरी।

व्यस्त सकल दिन, नींद-भरी रतियाँ, अध-लड़ बेली-कोंढ़ियाँ
तू सन्ध्या की जुन्हाई, आयी गोरी रे याद तेरी।
ध्रुव-जोन्ही यह आयी, आयी गोरी रे याद तेरी।

नाचती आयीं, चली गयी जोन्हियाँ, आँखें रहीं, ये रही,
परिचय - दीप्त सोहाई, आयी गोरी रे याद तेरी।
तम आया; ज्योति आयी; आयी गोरी रे याद तेरी।

---
१. द्विरागमन।

झउआ के फूल

कातिक कुआर की भोर-किरण नहीं फूटी अभी,
बाँह हवा यह छेदती पग रेत लगी,
'झउआ-सी छाती की हड्डियाँ रे धनी, डोल रहीं,
डोलता दिल तुम्हें देख, बताओ तुम कौन अरी।'
'झउआ के फूल हम लोग', सुन्दरी एक बोल उठी,
'पाला से हमें नहीं डर, बटोही', सुन सब हँस दीं।
'गाँव कहाँ रे धनी, बास कहाँ रे, तुम कहाँ रहती ?'
'झउआ के फूल हम लोग', सुन्दरी वही बोल उठी,
'गाँव के बाहर झोपड़ी झाड़ी-झाड़ बसी
झाँके न कोई उस ओर, बटोही', सुन सब हँस दीं।
'खातीं नमक-तेल बोर रे मडुआ की रोटी कड़ी,
सुन्दर सुघर तेरे अंग मुझे है अचरज रे अति।'
'झउआ के फूल हम लोग', सुन्दरी वही बोल उठी,
'नीरस रेत में प्राण, बटोही', सुन सब हँस दीं।
'चलो, चलो, मालिक के खेत, आ जाये वह सखी न कहीं'
जल्दी-जल्दी मुँह निज पोंछ किलकतीं भाग चलीं।
थाम लिया हाथ मैंने उस चुलबुली का, 'री ठहर धनी,
एक क्षण बोल मृदु बोल, भला रे ऐसी कैसी जल्दी,
लाल बादाम ऐसे ओठ शहद रंग सूरत भली,
मिसरो ऐसी तैरतीं आँखें रे बर्र ऐसी भौंह-बरौनी।
शरबत ऐसा तेरा रूप दीपक ऐसी ज्योति जगी,
चलो, करो घर उजियाला, रे बाग-बाड़ी हरी रे भरी।'
'मालिक की रे ज़मीन शकरकन्द-जंगल-भरी,
उस को कमाने हम जायँ, छोड़ो रे हटो, ढीठ बटोही।'
'मिट्टी-रंग तेरी यह साड़ी, रे पत्ता-रंग चोली सजी,
कन्द-रंग धनी, तेरे अंग, बाहर रूखी भीतर मीठी।
फूल-रंग तेरे धन केश रे और नयनों की पुतली !
आओ, बैठो, तुम्हें देख मालिक बिसरेगा कन्द की सुधि।'
'धत्' बोली लज्जित प्रियंवदा हाथ झटक भगी,

कर में उठाये साड़ी - चून मचकती रे हरिणी-सी।
फिरी एक झउआ के पास कुछ-एक क्षण खड़ी हो रही,
रंज से अधिक काली भौंहें रे आँखें हँसी से उजली।
बंकिमा ओठों की लाल दुलार - भरी रंज - भरी
पतले घूँघट में ज्यों रूप निखरता है सौ गुना ही।
'झउआ के फूल हमलोग, रे झउआ की सूखी लकड़ी,
पीठ बने धोबिया का पाट मालिक यदि देख ले अभी।
बाबा होंगे मालिक के द्वार बहारें राह अकेले अभी।
घूरते हो क्या इस ओर रे ऐसे बड़े ढीठ बटोही!'
'झउआ के फूल श्वेत लाल' वाणी यह मेरे मुँह से कढ़ी,
'उषा और प्रात, प्रतीक नये दिन के री सखी'।

असुरपुरी में दस से छह

मशीनें :

धक-धक खच-खच धक-धक खच-खच
धक-धक धक-धक खच-खच खच-खच
धक-धक खच-खच धक-धक खच-खच
धक-धक धक-धक खच-खच खच-खच
धक-धक खच-खच धक-धक धा-धा
खच-खच खच-खच धक-धक खच-खच
धक-धक खच-खच धक-धक धा-धा-धा
धा धा धा धा धा—

एक मशीन :

बातें बड़ी-बड़ी करता है
ऐंठा-ऐंठा ही फिरता है
हम सब डटी हुई ड्यूटी पर
पर उस कोने में पाइप पर

मशीनें :

ऊँघ रहा है मानव, हा-हा
ऊँघ रहा है मानव देखो
ऊँघ रहा है मानव—
हा-हा-
हा-हा-हा-हा-हा !

अलार्म : (भारी, आज्ञापना-भरा स्वर) :
आपरेटर ! आपरेटर !
प्यास ! पानी ! प्यास ! पानी

(मशीनों से घिरे एक कोने में पाइप पर बैठा ऊँघ रहा एक कमकर चौंक कर जगता है और दौड़ कर एक वाल्व-हैंडल घुमाने लगता है ।)

अलार्म :

आपरेटर ! आपरेटर !
प्यास ! पा—

कमकर :

आधी रात दिसम्बर की है । ज़्यादा खिला दिया वाइफ़ ने ।
अंगों में थकान भी थी कुछ, गर्म मशीनों से कोना था,
—अभी ज़रा-सा बैठा था, बस, आँख लग गयी—

मशीनें :

दो घण्टे तो काम किया है,
इतने में तू थका हुआ है !
क्षण-क्षण, पल-पल,
बरस-बरस भर
बे-सुस्ताये हम खटती हैं !
सिर्फ़ तुम्हीं को सर्दी लगती,
तुम ने ही बस खाया है क्या ?
केवल तुम्हें चाहिए गरमी—
वाह, वाह, वाह,
वाह, वाह, वाह, वाह, वाह !

बातें बड़ी-बड़ी करता है
ऐंठा-ऐंठा ही फिरता है
हम सब डटी हुई ड्यूटी पर
पर उस कोने में पाइप पर
ऊँघ रहा था मानव छिः छिः
ऊँघ रहा था मानव तू तो
ऊँघ रहा था मानव
छिः छिः छिः छिः छिः छिः छिः छिः !

कमकर :

ऐरावत-सो भीमकाय हो, ऐरावत-सी तुम बलशाली,
नन्हा-सा अंकुश है लेकिन, यह नन्हा-सा मानव, सखियों,
जिस से तुम सीधे रास्ते से चला किया करती हो !

अलार्म :

आपरेटर !

(कमकर चौंक कर दौड़ता है और वाल्व-हैंडल घुमाने लगता है ।)

आप—!

मशीनें :

बातें बड़ी-बड़ी करता है
ऐंठा-ऐंठा ही फिरता है
हम सब डटी हुई ड्यूटी पर
बातों के चक्कर में लग कर
भूल गया था मानव हा-हा
भूल गया था मानव, देखो,
भूल गया था मानव
हा-हा-हा,
हा-हा-हा-हा-हा !

कमकर :

बैल एक जोड़ी तगड़ी हो तुम मेहनत से खटनेवाली,
यह न भूलना मैं गृहस्थ हूँ, जिधर चलाऊँ उधर चलोगी !

कुछ मशीनें :

सब-कुछ स्वयं सँभाले रहतीं
अरे, चलाये तू क्या हम को !
एक ज़रा-सा पानी लाने को तू है—
उस में भी गड़बड़ !

दूसरी मशीनें :

तू मालिक है ? हाँ-हाँ, वृष है !
हम अफ़सर हैं, अपने से ऊँची गद्दी का
हुक्म बजा कर
तुझे पीसते हैं मनमाना ।

सभी मशीनें :

मालिक का मुँह देखो, हा-हा,
जल तो देख नियम से, जा-जा !
हमें चलाना पीछे—
जा-जा-जा,
जा-जा-जा-जा-जा !

कमकर : (कानों पर हाथ रख कर)

बस-बस, बस-बस ! एक-एक कर !
अलग-अलग बोलो तो समझूँ !

मशीनें :

गरमी, प्रेशर, भाप, उपल-रज,
ग्रीज़, गैस, जल की आवाज़ें
एक साथ हम सब सुनती हैं,
तू दो बातें भी न समझता—
अंकुश का मुँह देखो, हा-हा,
जल तो देख नियम से जा-जा
हमें चलाना पीछे—
हा-हा-हा,
हा-हा-हा-हा-हा !

'मदन वात्स्यायन'

कमकर : (हँसता हुआ)

इस युग की पत्नी-सी हो कुछ, कौन बहस में जीते तुम से !
मियाँ कमाते, फटा पहनते, आफ़िस में गाली खा आते
सुबह-शाम उन की ब्यूटी का बाग़ पटाते, काँटे पाते ।

मशीनें :

वही पत्नियाँ तुम्हें बढ़ाती आगे भी हैं :
अफ़सर के हो पास, पास
युनिवर्सल तेरी
जैसे हम सब ख़ुश होने पर !
दिल से आ सेवा कर, हा-हा
दिल से आ सेवा कर, सैयाँ,
दिल से आ सेवा कर
हा-हा-हा-
हा-हा-हा-हा-हा !

(कमकर अपने पुराने कोने में पाइप पर जा बैठता है और ऊँघने लगता है ।)

मशीनें :

हम राजे हैं, महराज हैं,
ग़ुस्से में थरथर कँपते हैं ।
सात महल का क़िला हमारा
एक कोस में परकोटा है ।
लाख-लाख मन भोजन प्रतिदिन
अरब-अरब गैलन जल, हा-हा,
सहस-सहस सेवक जन,
हा-हा-हा-
हा-हा-हा-हा-हा !

हम पूँजीपति महासेठ हैं,
पड़े हुए निश्चल पहाड़ से ।
कोटि-कोटि रुपयों की दौलत

सदा हमारे पड़ी ख़ज़ाने।
शत-शत बुध वेतन-भुक् मेरे।
सब का ख़ून चूसते, देखो,
आयु चबाते हैं हम,
हा-हा-हा,
हा-हा-हा-हा-हा!

हम ईश्वर हैं आटोमैटिक,
पोर-पोर में घुस अदृश्य ही
स्थूल जगत् चालित करते हैं।
विह्वल भक्त विकार-रहित हम।
बिना कान सुनते हैं, हा-हा,
बिना पाँव चलते हैं, देखो,
बिना हाथ उत्पादन,
हा-हा-हा,
हा-हा-हा-हा-हा!

कालोऽहम् भय-त्रस्त पार्थ नर
भीषण दाढ़-दाढ़ पिसते हैं,
प्रलय-विज्जु आँखों में मेरी।
आग लहकती घोर मुखों में!
सौ-सौ पेट, हज़ार शीश हैं
मील-मील भर भुजा पसारे
दस दिगन्त में तन है
हा-हा-हा
हा-हा-हा-हा-हा!

हम भादों के भरे मेघ हैं
चढ़े हुए गिरि के पुट्ठों पर
कज्जल-वर्ण विज्जु-माला धर
गरज हमारी दिशा कँपाती।
गिरि के शृंग उड़ातीं, देखो,

नदियाँ रीती करतीं, देतीं
खेती में जीवन-रस
झम-झम-झम,
झम-झम-झम-झम-झम !

हम सरस्वती अन्तःसलिला,
तीर हमारे जलें वेदियाँ।
बड़े-बड़े ऋषि रूक्ष वसन, बुध,
विरल-वाक्, नीरस-मन, करते
ऋभुओं का आवाहन आ-आ,
त्वष्टा का आवाहन देखो
अश्विद्वयो ! जगकर्मा !
स्वाहा स्वा-
हा स्वाहा-स्वाहा !

दानव गुरु हैं मन्तर-द्रष्टा
जिन मन्त्रों से पुष्ट-मांस हो
बार-बार है किया पराजित
सुधापायियों को असुरों ने
भागा किये वज्रधर, धा-धा,
छोड़ हमें इन्द्राणी, हम वह
दैत्य-वेद रचते हैं
धड़-धड़-धड़
धड़-धड़-धड़-धड़-धड़ !

हम हलधर हैं, हरक्युलीज़ हैं,
अरणि-हस्त अंगिरा राम हैं,
शक्ति-मन्त्र का ऋषि जो-जो भी
हम उस के गोत्रोत्पन्न हैं।
विद्युज्जटी, अयस्-त्रिशूल-धर,
प्रलय-सृष्टि का ताण्डव करते
सिम्बल सूत्र विरचते

डम-डम-डम
डम-डम-डम-डम-डम !

अलार्म :

आपरेटर ! आपरेटर !
प्यास ! पानी !
प्यास ! पानी !
आपरेटर !

(कमकर चौंक कर दौड़ता है और वाल्व-हैण्डल घुमाने लगता है।)

आपरेटर !
प्यास ! पानी !
प्या—!

मशीनें :

बातें बड़ी-बड़ी करता है
ऐंठा-ऐंठा ही फिरता है
हम सब डटी रहीं ड्यूटी पर
पर उस कोने में पाइप पर
ऊँघ रहा था मानव फिर जा,
ऊँघ रहा था मानव तू तो,
ऊँघ रहा था मानव—
छिः छिः
छिः छिः छिः छिः छिः !

(दूर पर छुट्टी का भोंपा बोलता है। कमकर उठ कर जाने लगता है।)

कमकर (जाता हुआ) :

सब कुछ है, पर अभी लौट कर जब अपने क्वार्टर पहुँचूँगा,
'उस' के आंलिंगन की गरमी औ' बेटे के तुतले स्वागत की
दुविधा में
एक आँख की निद्रा का सुख मुझे बदा है—
न कि तुम को भी ! विदा, विदा ! शुभ प्रात !
मिलेंगे पुनः शाम को।

मशीनें (चिढ़े स्वर में) :

बातें बड़ी-बड़ी करता है
ऐंठा-ऐंठा ही फिरता है
हम सब डटी रहीं ड्यूटी पर
पर उस कोने में पाइप पर
ऊँघ रहा था मानव, जा-जा,
ऊँघ रहा था मानव, छिः छिः
ऊँघ रहा था मानव
जा-जा-जा
जा-जा-जा-जा-जा !

सरकारी कारख़ाने में कर्मचारी की चिन्ता

ओ मेरे अफ़सर !

ओ मेरे अफ़सर,
तुम ने मेरे हृदय में अन्धकार भर दिया,
मेरी आँखों की ऊषा छीन ली,
मेरा हँसमुख हृदय सन्ध्या के रंगीन बादलों की तरह
धीरे-धीरे फीका पड़ता-पड़ता काला हो गया है।
मैं मर रहा हूँ।

ओ मेरे अफ़सर,

तुम्हारी एक लाइन ने मेरे बाग़ को निर्गन्ध कर दिया,
मेरे रंगीन इन्द्रधनुष पर रोशनाई पोत दी,
मेरे आकाश से वह एक हँसमुख तारा अस्त हो गया,
कि जिस के सहारे ही मैं चलता रहा था।

ओ मेरे अफ़सर,

तुम मेरे तन-मन में, खान-पान में, आँगन-घर में, क्षण-क्षण
में समा गये हो।
मुझे अच्छी नींद नहीं आती, भूख नहीं लगती, किताबें नहीं
पढ़ पाता, सिनेमा नहीं जाता, पार्क में नहीं बैठता।
मैं अपने बच्चे से भागा-भागा फिरता हूँ।
रात में सोये से तुम्हारा सपना देख कर मैं जाग पड़ता हूँ।

ओ मेरे अफ़सर,

तुम्हारी एक लाइन ने मेरे जीवन की कविता को निरर्थ कर दिया
बीच ज़िन्दगी में मैं एकाएक विधवा हो गया,
हसरत-भरी निगाहों से मैं उस क्षितिज को देख रहा हूँ जहाँ
अब मेरा चाँद नहीं उगेगा,
मैं वह पौधा हूँ जिस की जड़ झींगुर ने काट दी, इस में अब
फूल नहीं खिलेंगे।

ओ मेरे अफ़सर,

ब्रह्मा का लिखा मिट सकता है, कल का अछूत आज मन्त्री
हो सकता है।
पर तुम्हारी लाइन का भार लिये मैं कहाँ जाऊँ, कहाँ भागूँ,
कश्मीर से कन्याकुमारी तक के किस दफ़्तर में जा छिपूँ?

तुम सरकारी अफ़सर हो,
'राखि को सकै राम कर द्रोही'!

ओ मेरे अफ़सर,

कितना तुनुक तुम्हें काम मिला था,
फ़ाइव-इयर प्लान के लिए नौजवान खम्भे गढ़ने का
योग्यता वाले, जोश-ओ-खरोश वाले, जुनून वाले!

और तुम ने किया क्या ?

ओ मेरे अफ़सर,

तुम सरकारी अफ़सर हो, तुम्हारा काटा पानी नहीं माँगता।
क़ानून की दरार में से तुम ने गोली चलायी,
और मुझे चुपचाप सुला दिया।
अपने फ़ाइलों के जंगल में ले जा कर तुम ने मुझे क़त्ल कर दिया।

ओ मेरे अफ़सर,

तुम ने मुझे मारा भी नहीं,
मेरी उषा को मिटा कर मुझे ज़िन्दा छोड़ दिया।
ताकि आज से बीस-पच्चीस वर्ष बाद तक मैं तिल-तिल जलूँ,
घुल-घुल के मरूँ,
कि जैसे तुम से मुझे इश्क हो !

ओ मेरे अफ़सर,

कितना रंगीन था मेरा दिल जब मैं यहाँ आया था।
प्लांट लगता था कामधेनु है,
भोंपा लगता था पांचजन्य है,
कारखाना लोहे की अलका था।

ओ मेरे अफ़सर,

पावर प्लांट को मैंने रसायन पीने वाले, आग तापने वाले,
जटा से जोगिनी निकालने वाले शिव कहा था,
मिट्टी काटने वाली मशीन मुझे नन्दी बैल लगी,
हनुमान्-सा वैगन उलटने वाला।
मैं खिलखिला-खिलखिला कर इस मशीन से, उस मशीन से,
लिपटता फिरता था।

ओ मेरे अफ़सर,
मेरी परियाँ भाग गयीं,
इन मशीनों को देख कर अब मेरी आँखों में आँसू भर आते हैं।
कितनी कठोर हैं ये, कितनी काली, कितनी कुरूप !
देखो तो, अब क्या-क्या लिख जाता हूँ मैं—
"हमारे नये कारख़ाने की बड़े दाम की आटोमैटिक कंट्रोल वाली मशीनें हैं।

एक मशीन के जबड़ों में एक रोज़ मेरा हाथ पड़ गया।
कंट्रोल का अलार्म चीख़ उठा, मशीन बन्द हो गयी, जबड़े हट गये, मेरा हाथ निकल आया।
काश, हमारे नये कारख़ानें में बड़े दाम वाले साहबों में ऐसी इन्सानियत होती !"

"अफ़सरों से भरा सरकारी कारख़ाना
साँपों से भरी कोठरी है—
आँखें नहीं झपकतीं !
अफ़सरों से भरा सरकारी कारख़ाना
बबूल का घना वन है—
पाँव नहीं टसकते !

ओ मेरे अफ़सर,
तुम ग़रीब पैदा हुए थे, बड़ी मुश्किल से पढ़ा-लिखा।
पाँच-साल पहले का तुम्हारा गिड़गिड़ाता चेहरा मुझे आज भी याद है।

हाथ जोड़ कर तुम आगे बढ़े, क्या इस लिए
कि मेमनों को डँसा करो !

ओ मेरे अफ़सर,
मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था,

क्या क़ुसूर किया था तुम्हारा मेरे बच्चे ने, मेरी पत्नी ने,
मेरे भाई-बहनों ने ?
क्या यह कुछ इतना बड़ा अपराध है, कि मैं भारतीय तो हूँ
पर तुम्हारे प्रान्त का नहीं हूँ ?

फागुन की शुक्ल पंचमी है, मेरा जन्म-दिन। पंचमी का छोटा-सा हत-प्रभ चाँद सामने क्षितिज के धुँधलेपन में मिट कर मेरी आँखों को अँधेरी छोड़ गया है। रात बढ़ गयी है, होली के बारह दिन रह गये हैं, यह बिहार की भूमि है पर न कहीं डफ है न होरी, चारों ओर सुन्न-सन्नाटा है, मानो इस साल मेरा जन्म-दिन मनाने के बजाय फागुन मेरी मौत का मातम मना रहा है।

अकेला हूँ। क्योंकि बिहार की भूमिपर ऐसी जगह हूँ जहाँ रोटी के साथ दाल भी मिल सकती है। बकौल बिहारियों के हिन्दी, बकौल औरों के बिहारी मेरी मातृभाषा है, मेरी माँ की भाषा, क्योंकि मेरी अपनी बोली यहाँ या तो अँगरेज़ी है या मौन।

अन्धकार घिर आया है, मेरे अन्तर में और मेरे इस छोटे-से बाग़ में। जंगलों ने उपज-उपज कर मेरी बेली-चमेली की झाड़ियों को ढँक लिया है, सूखे पत्तों की सड़ाँध में मेरी रजनी-गन्धा की ख़ुशबू डूब गयी है, जड़ों में कीड़ों से मेरी चम्पा के उन्नत पेड़ पीले पड़ रहे हैं। मेरा बाग़ आज बियाबान है।

मैं झँख रहा हूँ कि मेरे बाबा ने इस फुलवाड़ी को लगाया, मेरे बाप ने इसे पाला-पोसा, और आज मेरी आँखों के सामने यह लुटी पड़ी है।

लुट रही है, क्योंकि बगल की सरायों की उजेरी कोठरियों में चहचहाहट है, जहाँ सरायों के बेरहम बनियों ने मेरे गुलाब के फूलों को काट-काट कर अपने गुलदस्ते सजा रखे हैं।

लुट रही है, क्योंकि बेदर्दों ने मेरी मालती की लताओं को खोद-खोद कर जगह-ब-जगह अपने निर्गन्ध मौसमी फूल लगा दिये हैं।

लुट रही है, क्योंकि ज़ालिमों ने अपने मोटे-मोटे बूटों से मेरी सारी

क्यारियां रौंद डाली हैं; उन के सिगरेटों के धूएँ में मेरी तुनुक शेफालिका का दम घुट रहा है।

कहाँ गया मेरा मौर्य, और कहाँ गया मेरा शेरशाह, ज़रा इन की छातियोंकी उद्धत उठान तो देखे! कहाँ गया मेरा चाणक्य, ज़रा इन की क़लमों की ताक़त को आजमाये। कहाँ गया मेरा आर्यभट्ट, ज़रा इन के ढोंगों की कुहेलिका को तो फाड़ दे! कहाँ गया मेरा गौतम, जो अपने अमृत के महासागर में विष-शैल डुबो दे!

पर मेरे बाग़ में अन्धकार घिर रहा है क्योंकि न मौर्य बोलता है न शेरशाह; मेरे बाग़ में अन्धकार घिर रहा है। क्योंकि चाणक्य मरा पड़ा है, और आर्यभट्ट की साँस नहीं चलती; मेरे बाग़ में अन्धकार घिर रहा है क्योंकि गौतम के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती!

मेरे बाग़ में अन्धकार घिर रहा है। उफ़, ये काले-काले बादल चारों ओर से उमड़े आ रहे हैं कि बाग़ का अस्तित्व ही मिटा दें। माँ, ज़रा सुनो तो इन की आवाज़ें। माँ, माँ, ज़रा देखो तो इन का काला-काला अट्टहास! ये तो धूल की धाराएँ बरसाते हैं, माँ! माँ, इन की तो बिजलियाँ भी काली हैं! माँ, माँ तुम कहाँ हो? माँ, मैं तुम्हें देख नहीं पाता। माँ, तुम मुझ पर पेट्रोल डाल कर मुझे ही जला कर प्रकाश कर लो, और एक क्षण अपना स्निग्ध मुखड़ा दिखला कर मुसकरा दो, माँ!

ओ मेरे अफ़सर,
क्या कभी कोई आग
वातावरण को ठण्डा कर गयी है?
क्या कोई आँसू
दुनिया को सूखी कर गया है?
अपनी ताक़तों का जिन को नाज़ था
इतिहास की धूल में वे खो गये।
तुम भी ग़रीब थे, शोषकों को चीरते आगे बढ़े,
और अब मैं ग़रीब हूँ!
ओ मेरे अफ़सर!

'मदन वात्स्यायन'

अपथगा

['दिनकर' जी की लीक पर]

धड़-धड़-धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ।
मेरे स्वागत में चीख़ रहीं प्रज्वलित कण्ठ चिमनी शत-शत ,
लोहे पर लोहा धमक रहा आह्वान-रोर में हत-प्रतिहत ,
पेट्रोल-वह्नि से विकल-गन्ध सदियों के दहक रहे खाण्डव ,
पृथ्वी में आर्त्त-प्रकम्प, विद्युतों से कराल नभ आकुल-रव ,
चट्टान फाड़ निकली नृसिंह मैं अर्द्ध-सभ्य भीषण-केसर ।
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ।।

मैं अग्नि-दानवी की बेटी, फल दहक रहे तहख़ानों में ,
पत्थर-सी निखर जवान हुई मैं तड़ित-क्षुब्ध तूफ़ानों में ।
ऋभुओं ने गढ़ा वज्र कंकण, मय ने दुर्दान्त अयस्-कुण्डल ,
निज मुण्ड काट लंकापति ने शत बार सजाया वक्षस्थल ।
मेरे चरणों में प्रणय-भीख माँगते रहे सुर-वर पवि-कर ।
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ।

मैं निस्तेजों का तेज, निःस्व की जादू की हूँ बाँह सबल ,
लोगों राष्ट्रों के भाग्यों पर मैं प्रश्न-चिह्न नित-नव अ-सहल ।
मेरे नथनों में प्रलय-धूम, आवृद्ध-कोख में भू-कम्पन ,
निर्जर अशान्ति का चीर पहन, नाचा करती मैं छूम-छनन ।
मैं उलट-फेर की जादूगर, मैं निलयंकर, मैं विलयंकर ।
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ।।

कोई मुँह से, पग से कोई, बाँहों-जाँघों से जात चार—
मैं रक्त-शिरा !
ऊपर-नीचे धाती सत्वर निर्बन्ध खोलती ज़हाँ धार ।

मैं गगन फोड़ कर झहरी हूँ दुर्द्धर अबाध गंगावतार,
इतिहास उलटती धाती हूँ मैं श्रुति-स्मृतियों के आर-पार।
मैं क्षुब्ध ज्वार-सी दुर्निवार, उत्तप्त तिपहरी का अन्धड़।
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ॥

मैं विनय-क्षुधा से चिर-अतृप्त मेरे पंजों का घात क्रूर,
मैं रौद्र-तेज को रण-चण्डो निर्द्वन्द्व अन्ध निर्बन्ध शूर।
यह लो दाहिने खड़ी कोमल तुलसी की मंजु सरल माया,
बायें साँगा की चिर-उन्नत गौरव-उज्ज्वल आधी काया।
मैं पोतयुक्त क्लाइव नृशंस, मैं तोपयुक्त बर्बर बाबर।
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ॥

मैं चिर-कुमारिका नित्य-मुक्त आकाश अयन पाताल बास,
विक्षुब्ध ऊर्मियाँ पथ मेरा शिखरों पर मेरा अट्टहास।
मैं अपथ-गामिनी जिधर चली भीषण कान्तार विकट मरुथल,
आतुर पीछे-पीछे मेरे उठती गिरती सभ्यता विकल।
मैं वर्त्तमान की रानी हूँ, मैं उदय-प्रहर की रश्मि अमर।
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ॥

अब परशुराम की बारी है ओ जड़ता की चट्टान-सजग!
यह भीम-शक्ति का इंजन है, सम्मुख-शयान अ-सयान सजग!
मिट्टी पर कौंध रही जिस से आलोकित था सुर-यान, सजग!
ओ दिआ-ज्योति-रंजित सपने सपनाने वाले प्राण, सजग!
सुन लो, बज रहा दिशाओं में किन महा ट्रैक्टरों का घर्घर!
धड़-धड़ धड़-धड़-धड़ धड़ड़-धड़ड़ ॥

मिथिला में बाढ़

अरे यह कौन आता है
प्रलय के पार ?

घहरता हिमवान् से यह प्रलय-पारावार
उमड़ा है।
अरे हिमवान् उतरा है
प्रलय ले कर।
कि आया अन्त दुनिया का—
धरा धँसती।
क़हर है।

गगन का यह तरंगायित विमन्थित क्रोध !
नियति का क्षोभ उच्छृंखल विघूर्णित;
रोर प्रलयंकर, विनाशी गति,
ज़हर का रंग मटमैला।
न कोई माँ न कोई बाप;
अराजकता। अँधेरा।

आर्त्तनाद !

मगर यह कौन आता है
विनाशी धार में धँसता,
विहँसता,
हेलता ?

कि सीता का खिला आँगन,
हरे वन-खेत लिच्छवि के
नहीं है सत्य।

नहीं है सच कि मिथिला में

लुटा कर अमृत-फल घर-घर महादानी विटप मधु आम के
साया लिये
अब भी धनी होंगे।

नहीं है सच कि गण्डक के किनारे धान के शावक
ठुमकते हैं
मचलते हैं कि अम्माँ, वे सुनहले तार दो,
ऊँ, उन रुपहले मोतियों के हार दो
कि जो लटके मकइयों पर, व' देखो !

नहीं है सच कि मिथिला लाल होगी
टेस मरिचों-सी,
नहीं है सच कि पीले स्वर्ण होंगे अंग
सरसों से;
नहीं है सच कि गन्नों में पड़ेगी माधुरी कढ़ फूट
दिक्-दिक्।

विलय में
रुदन का दम घुट गया है।
थका आक्रन्द भी चुप है;
यही सच है।

यही सच है कि काला व्योम है,
काली दिशाओं में
घहरती जा रही बेरोक, एकाकी, भयावह,
मौत की समवेत हर-हर रोर।
चली आती (फलक पर सर्वथा निस्संग)
किसी हाथी की भसती लाश।

यही सच है कि जब यह
मरण की पंचाननी खा कर अघा लेगी,

नुचेगी देह स्यारों से
क्षुधा से, काल-ज्वर से, सूद-खोरों से।

प्रलय है।

मगर यह कौन है ?
मुश्किल घड़ी में कौन हिम्मतवर, अरे,
यह कौन जीवट का युवक इन पानियों के पार, देखो,
आ रहा है ?
कलेजे से रगड़ कर लौट जाती है कि जिस के
काल की यह जीभ लपलप, मुक्त, लोलुप ?

अरे, यह कौन है, टूटी नहीं जिस की कि हिम्मत
आज भी ?
उछलती इन तरंगों की शिखाओं पर
चमक उठती दिये की यह सुनहली ज्योति
किस की ?
—कि इस तूफ़ान में !

अरे, ये इस समय भी बज रहे
निर्बाध, हठधर्मी,
अरे दुर्दान्त बजते हैं ये किस की
बीन के दुर्जय तार ?

माँ,
युगों की ओ उपेक्षित माँ,
दलित, दासी, दरिद्रा !
सुनो, इस अन्तिम घड़ी में
कौन आश्वासन तुम्हारे प्राण
अब भी रुक रहे मुँह में ?

बधिर प्रान्तीयता, जातीयता अन्धी,
बुभुक्षित भ्रष्टता, सहकी हुई ताक़त,

सबों पर फ़ाइलों का छत्र !
जलन से, कामना से, धुआँ देता, दहकता
लोक-मत ।
फैलती इस सड़न में हैं लहक उठते
ये किस के चीकने पत्ते ?
पतन की बाढ़ में ?

बड़े घनघोर ये बादल
बड़े मुँहज़ोर ये बादल
पहाड़ों से
घनों पर घन
कि ज्यों हिमवान् ही डंका बजाता घुमड़ आया है
दिशाओं से, गगन-पथ से ।

मगर यह कौन है ।
बड़े तड़के सुबह ही जाग कर, हम को जगा कर,
विजन में, सिन्दरी में, रौरकेला में,
कि दुर्गापूर, चण्डीगढ़,
बोकारो, चित्तरंजन में
कि बैंगलोर, विशाखपट्टन में,
नियति की कुलिश-वर्षा से अँकुरतो चिमनियों के स्वर
ठमकते इन्द्र के सम्मुख ।
विजय के अमर झण्डों-से
ये काले धूम के बादल,
ये उजले भाप के बादल,
सदल-बल घेर कर नभ को,
गुमानी आसमाँ को,
लो, ये घिर आये रथी प्रति-रथ ।
महानद, कौशिकी, कृष्णा, कि सतलुज पर,
विभव-गर्भा दामोदर पर
हमारी हिम्मतों-सी ठोस सीमेंट की दिवारों में उतरते

शत-सहस सोते
घमंडी व्योम पर हँसते ठठा कर—
कि जिस में काल का वह घोर स्वर भी डूब जाता है।

विभव की बाढ़ में।

■

केदारनाथ सिंह

परिचय

[केदारनाथ सिंह : जन्म नवम्बर १९३२, सामान्य किसान परिवार में। बचपन सहज सुख और सुविधाओं में बीता। पिता उन दिनों सक्रिय राजनैतिक कार्यकर्ता थे, संगीत में रुचि रखते थे और अखवार नियम से पढ़ते थे। "मैं उन की राजनैतिक सक्रियता तो नहीं ग्रहण कर सका, पर उन के संगीत-प्रेम से भीतर-ही-भीतर प्रभावित होता रहा।" "जीवन में मैंने जो पहली कविता लिखी उस का विषय था सुभाष की मृत्यु।" इस आरम्भिक प्रयास को छोड़ कर व्यवस्थित रूप से लिखना आरम्भ किया सन् १९५० से।

शिक्षा उदयप्रताप कॉलेज और हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में पायी; एम० ए० के बाद 'आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान' पर शोध करके पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। अब गोरखपुर ज़िले के एक कालेज में प्राध्यापक हैं।

एक कविता संग्रह **अभी बिलकुल अभी** प्रकाशित हो चुका है।

रुचियों का क्षेत्र सीमित : "कविता, संगीत और अकेलापन, तीन चीज़ें मुझे बेहद प्रिय हैं। मित्र बहुत कम बना पाता हूँ, क्योंकि एक व्यावहारिक व्यक्ति में जो खुलापन होना चाहिए उस का मुझ में नितान्त अभाव है।"

"हर लम्बे दिन के बाद जब लौट कर आता हूँ तो कुछ देर तक कमरे के दानव से लड़ना पड़ता है। पराजित कोई नहीं होता। पर समझौता भी कोई नहीं करता। शायद हम दोनों को यह विश्वास है कि हमारे बीच एक तीसरा भी है जो अजन्मा है। कौन जाने यह संघर्ष उसी के लिए हो!"]

वक्तव्य

कविता में मैं सब से अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब-विधान पर। बिम्ब-विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उस के रूप से भी। विषय को वह मूर्त्त और ग्राह्य बनाता है; रूप को संक्षिप्त और दीप्त। चित्रों के प्रति मेरे मन में जो आकर्षण है; उस के कुछ कारण हैं। प्रकृति बहुत शुरू से मेरे भावों का आलम्बन रही है। मेरा घर गंगा और घाघरा के बीच में है। घर के ठीक सामने एक छोटा-सा नाला है जो दोनों को मिलाता है। मेरे भीतर भी कहीं गंगा और घाघरा की लहरें बराबर टकराती रहती हैं। खुले कछार, मक्का के खेत और दूर-दूर तक फैली पगडण्डियों की छाप आज भी मेरे मन पर उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस दिन थी, जब मैं पहली बार देहात के ठेठ वातावरण से शहर के धुमैले और शतशः खण्डित आकाश के नीचे आया।

मानवीय संस्कृति का इतिहास चेतना के विकास का इतिहास है। इस विकास के साथ-साथ काव्यात्मक बिम्बोंके स्वरूप तथा पद्धति में भी अन्तर आता गया है। यह विचित्र बात है कि काव्य में बिम्बों का अन्त-रावलम्बन उसी प्रकार चलता रहता है, जिस प्रकार जीवन में संस्कृतियों का। सामान्यतः काव्य का आनन्द लेते समय हम इस बात को लक्ष्य नहीं कर पाते, पर थोड़ा रुक कर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से छान-बीन की जाय तो निश्चय ही किसी बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन हो सकता है, जो सम्भव है हमारी संस्कृति की गुत्थियों को सुलझाने में सहायक हो। उदा-हरण के लिए यौन-बिम्बों को लिया जाय। आज अधिकांश यौन-बिम्ब जीवन के उच्चतर मूल्यों को व्यक्त करने के लिए साहित्यमें लाये जाते हैं। प्रायः उन के द्वारा आध्यात्मिक संकेतों का ग्रहण होता है। इस के विपरीत फ़ारसी तथा उस से प्रभावित उर्दू साहित्य में आध्यात्मिक बिम्बों के माध्यम से लौकिक जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करने का चलन-सा हो गया है। अपने यहाँ की रीतिकालीन कविता में भी ऐसा पाया जाता है। यौन-बिम्बों के साथ आध्यात्मिक मूल्यों का यह विनिमय, सम्भव है,

किसी सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन का प्रतिफल हो।

मानव-संस्कृति के विकास में कवि का योग दो प्रकार से होता है – नवीन परिस्थितियों के तल में अन्त:सलिला की तरह बहती हुई अननुभूत लय के आविष्कार के रूप में, तथा अछूते बिम्बों की कलात्मक योजना के रूप में। पहले में कविता का व्यक्तित्व मुखर होता है, दूसरे में वस्तु-जगत् के साथ उस का अधिकाधिक सम्बन्ध। लय के आविष्कार के द्वारा वह मानवीय संवेदना को व्यापक बनाता है और नवीन बिम्बों के परिचय से हमारी ऐन्द्रिय चेतना को बृहत्तर यथार्थ के साथ सम्पृक्त करता है।

बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों की सहायता के मानव-अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्राय: असम्भव है, यहाँ तक कि जब हम शुद्ध विचार के क्षेत्र में पहुँच कर गम्भीर तत्त्व-दर्शन की चर्चा करते हैं, तब भी हमारे उपचेतन में कहीं-न-कहीं उन विचारों के वर्ण-चित्र उभरते मिटते रहते हैं। बिम्ब-निर्माण की यह प्रक्रिया पूरे मानव-जीवन में फैली हुई है।

नयी कविता की विशिष्टता की परीक्षा न तो चरित-चित्रण की पूर्व प्रचलित पद्धति पर हो सकती है, न प्राचीन रसवाद के नियमों के आधार पर; यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि रस की सत्ता से इनकार करना काव्य की सत्ता से ही इनकार करने के समान है। पर आधुनिक कविता में रस की धारणा बदल गयी है। रसवाद के लक्षणों के अनुसार आज की अधिकांश बौद्धिक कविताएँ अवरकोटि में आयेंगी। परन्तु फिर भी वे हमें प्रभावित करती हैं और कभी-कभी बहुत प्रभावित करती हैं; यह उन के श्रेष्ठ काव्य होने का सब से बड़ा प्रमाण है। एक आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उस के द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उस की विशिष्टता और उस की आधुनिकता सब से अधिक उस के बिम्बों में ही व्यक्त होती है। बिम्ब-निर्माण के विविध क्षेत्र हैं—प्रकृति, विज्ञान, मनोविज्ञान, धर्म, लोकसाहित्य तथा इतिहास आदि-आदि। हिन्दी के नये कवियों ने प्रकृति तथा मनोविज्ञान तक ही अपने को सीमित रखा है। धर्म, पुराण, इतिहास और लोक-साहित्य का क्षेत्र आज भी अपनी सम्पूर्ण उर्वरता और सम्भावनाओं के साथ नये सशक्त हाथों के स्पर्श की प्रतीक्षा कर रहा है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं और अन्तर्विरोधों को व्यक्त करने के लिए लोक-साहित्य, धर्म, पुराण

तथा इतिहास के खण्डहरों में बहुत से ऐसे अज्ञात प्रतीक और अदृष्ट बिम्ब पड़े हुए हैं जिन की खोज के द्वारा नयी कविता की सम्भावना का पथ और भी प्रशस्त किया जा सकता है।

मैं बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया पर ज़ोर इस लिए दे रहा हूँ कि आज काव्य के मूल्यांकन का प्रतिमान लगभग वही मान लिया गया है। एक अँगरेज़ आलोचक का तो यहाँ तक कहना है कि आधुनिक कवि नये-नये बिम्बों की योजना के द्वारा ही अपनी नागरिकता का शुल्क अदा करता है। तात्पर्य यह कि प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था, आज की कविता में वही स्थान बिम्ब अथवा 'इमेज' का है। इस के कई कारण हो सकते हैं; परन्तु मेरी समझ में सब से प्रत्यक्ष कारण यह है कि बिखरी अनुभूतियों और जटिल संवेदना को रूपायित करनेके लिए चरित्र-निर्माण का माध्यम कथा-कहानी के लिए उपयुक्त हो सकता है, पर काव्य के अपेक्षाकृत सीमित कलात्मक संगठन के भीतर वह सरलता से नहीं आता। कदाचित् इसी लिए इस युग की सर्वश्रेष्ठ कथात्मक काव्यकृति 'कामायनी' के अलग-अलग चरित्र हमें उतना नहीं प्रभावित करते, जितना उस के सम्मोहक चित्र और कथानक की गहन उदात्त पृष्ठभूमि। नयी कविता पर जो अस्पृष्टता और दुरूहता का आरोप लगाया जाता है, उस का सब से बड़ा कारण है, उस में सर्वथा नये अपरिचित, सघन बिम्बों की अधिकता, जिस के लिए अधिक संस्कृत और श्रेष्ठ सहृदयवर्ग की आवश्यकता होती है। 'चरित्र' का साधारणीकरण अपेक्षाकृत सरल होता है। पर बिम्ब तो उस से भी अधिक सूक्ष्म वस्तु है। फिर वह अधिक-से-अधिक कवि के रागात्मक अनुबन्धों पर आधारित होने के कारण अपने साथ एक व्यापक सन्दर्भ लिये होता है। उस के तल तक पहुँचने के लिए उस सन्दर्भ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

कहा जाता है कि एक सफल कविता का जन्म मानव-जाति के ज्ञात यथार्थ को सम्पन्नतर बनाता है। उसी तरह एक सफल बिम्ब का आकलन काव्यमात्र को पहले से अधिक सम्पन्न बना जाता है। मेरी निश्चित धारणा है कि नयी हिन्दी कविता में इस प्रकार के सफल बिम्बों की संख्या किसी भी अन्य युग की कविता से अधिक है।

कविता का सब से सीधा सम्बन्ध भाषा से है। भाषा प्रेषणीयता का सर्वसुलभ माध्यम है। अतः 'शुद्ध कविता' जैसी किसी चीज की कल्पना बिलकुल बेमानी है। समाज के प्रत्येक सदस्य की छोटी-से-छोटी चेतन-

क्रिया किसी-न-किसी अंश में सामाजिक होती है। फिर कविता तो समाज के सब से अधिक संवेदनशील व्यक्ति की चेतन-क्रिया है। उस की सामाजिकता असन्दिग्ध है। कविता अपने अनावृत रूप में केवल मात्र एक विचार, एक भावना, एक अनुभूति, एक दृश्य, इन सब का कलात्मक संगठन अथवा इन सब के 'अभाव' की एक तीखी पकड़ होती है। यह 'पकड़' जितनी ही वास्तविक होगी, कवि का संवेद्य उतना ही गहरा और प्रभावशाली होगा। इस के लिए उस में वास्तविकता के विभिन्न स्तरों की प्रत्यक्ष जानकारी होनी चाहिए और यह जानकारी सोलहों-आने उस की अपनी होनी चाहिए। नयी कविता की एक यह भी उपलब्धि है कि उस में कवियों का 'अपनापन' अधिक से अधिक सुरक्षित है।

काव्य के विषयों की सीमा नहीं बाँधी जा सकती। कुछ विषय ऐसे होते हैं जो प्रत्येक काल की कविता में अपना कलात्मक समाधान खोज लेते हैं; जैसे जन्म, मृत्यु, प्रकृति, ऋतुएँ आदि। एक सीमा पर जा कर कवि का आत्म-मन्थन इतना तीव्र हो जाता है कि वह चाहे भी तो इन के बारे में चुप नहीं रह सकता। पर ये विषय चूँकि सार्वयुगीन हैं, अतः इन की स्थिति जीवन की पृष्ठभूमि में होती है, कर्म-संकुल जीवन में नहीं। इन के समानान्तर एक परिवर्तनशील जीवन-चक्र भी होता है जिस में जगत् के दैनिक सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा; संस्कृतियों का आना-जाना, नगरों का बनना-मिटना और फ़सलों के उत्सव चलते रहते हैं। कवि की स्थिति इन के बीच होती है। वह बराबर आगे की तरफ़ देखता है, पर उन अनुगूँजों, असफल प्रयत्नों, अधूरी प्रार्थनाओं और अज्ञात प्रतिध्वनियों को कभी नहीं भूलता जो उस के साथ-साथ लगी चली आती हैं। अतीत का अनवरत बोध उस को उतना ही बल देता है, जितना एक नन्हें-से-नन्हें जीवित क्षण की तीव्र अनुभूति। छायावादी कवियों में 'प्रसाद' के भीतर यह बोध सब से अधिक जागृत था। 'चेतना सजग रहती दुहरी' लिखने-वाले कवि की व्यथा आज के सन्दिग्ध-चित्त कवि की मनःस्थिति के अधिक निकट है।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं उन्हें ज्यों-का-त्यों मेरी कविताओं पर घटाना मेरे साथ अन्याय करना होगा। वस्तुतः वे मेरे संकल्प हैं, जिन की ओर मुझे क्रमशः बढ़ते जाना है। अधिक-से-अधिक मेरी रचनाओं में मेरी इस विचार-प्रक्रिया की छाप यत्र-तत्र देखी जा सकती है, बस।

नयी कविता से मेरा परिचय **'तार सप्तक'** के माध्यम से हुआ था।

तब बनारस की कवि-गोष्ठियों में शम्भुनाथ सिंह के गीतों की गूँज थी। त्रिलोचन शास्त्री की रचनाएँ कम समझी जाती थीं। नामवरसिंह लिखते थे, पर कम-कम। मेरी आरम्भिक कविताओं पर इन सब का असर था। पर आज उन कवियों की एक-आध पंक्तियाँ ही याद रह गयी हैं, शेष पता नहीं क्या हुई? **'तार सप्तक'** के बाद मैंने 'अज्ञेय' का **'इत्यलम्'** और गिरिजाकुमार माथुर का **'नाश और निर्माण'** पढ़ा। मेरे भीतर नयी कविता की भूमि धीरे-धीरे उभरने लगी। विश्वविद्यालय-जीवन में प्रवेश करने पर मेरा रुझान बँगला की ओर हुआ और रवीन्द्रनाथ के गीतों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। फिर धीरे-धीरे अँगरेज़ी की आधुनिक कविता का सौन्दर्य भी मेरे निकट खुलने लगा और उस के माध्यम से कुछ अन्य भाषाओं की कविताओं से परिचय हुआ। आज वहाँ आ कर मन टिक गया है, जहाँ से कालिदास, सूर, बोदलेयर, 'निराला', ऑडेन, डायलन टॉमस और जीवनानन्द दास, समान रूप से प्रिय लगते हैं। जीवनानन्द दास की 'बनलता सेन' की 'इमेजरी' एक 'दृश्य गन्धमय निर्जन कान्तार' (यह विशेषण बुद्धदेव वसु का है) की तरह लगती है, जिस की विराटता की छाप मेरे मन पर बहुत गहरी है।

कला का संघर्ष एक तरह का आत्म-संघर्ष होता है—विशेष रूप से एक नये कवि के लिए। कवि के अनुभव और उस का दर्शन इस संघर्ष को केवल दिशा-भर देते हैं, उसे समाप्त नहीं कर देते। मेरी कुछ कविताओं में इस संघर्ष की झलक बहुत साफ़ है। मैं मन को बराबर खुला रखने की कोशिश करता हूँ, ताकि वह आस-पास के जीवन की हलकी से हलकी आवाज़ को भी प्रतिध्वनित कर सके। समाज के प्रगतिशील तत्त्वों और मानव के उच्चतर मूल्यों की परख मेरी रचनाओं में आ सकी है या नहीं, मैं नहीं जानता। पर उन के प्रति मेरे भीतर एक विश्वास, एक लालसा, एक लपट ज़रूर है, जिसे मैं हर प्रतिकूल झोंके से बचाने की कोशिश करता हूँ, करता रहूँगा।

—केदारनाथ सिंह

अनागत

इस अनागत को करें क्या ?—
जो कि अक्सर बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है !

किताबों में घूमता है;
रात की वीरान गलियों-पार गाता है !
राह के हर मोड़ से हो कर गुज़र जाता;
दिन-ढले सूने घरों में लौट आता है !

बाँसुरी को छेड़ता है;
खिड़कियों के बन्द शीशे तोड़ जाता है !
किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटा देता;
बिस्तरों पर छाप अपनी छोड़ जाता है !
इस अनागत को करें क्या—
जो न आता है, न जाता है !

आज-कल ठहरा नहीं जाता कहीं भी;
हर घड़ी, हर वक़्त खटका लगा रहता है !
कौन जाने कब, कहाँ वह दीख जाये !
हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है !
फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीख़ता हो;
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है !
हाथ उस के
हाथ में आ कर बिछल जाते
स्पर्श उस का
धमनियों को रौंद जाता है !

पंख
उस की सुनहली परछाइयों में खो गये हैं।
पाँव
उस के कुहासे में छटपटाते हैं !

इस अनागत का करें क्या हम
कि जिस की सीटियों की ओर
बरबस खिंचे जाते हैं !

पथ

आँखें खुलीं, दिखा आगे पथ मुड़ता-मुड़ता—
पार क्षितिज के चला गया था, ज्यों गदराया
धुआँ हो चले घना, तले चुकती-सी छाया-
भर उस की रह जाय, और सब उड़ता-उड़ता
लगे, बात जिन से दो करने को जी तरसे—
इकले पेड़ मिले, चिड़ियों ने ताना मारा,
हरियाली के घर से, टूट गयी जब कारा
क्या था फिर ऐसा जिस को भरता मैं स्वर से,
बस, नीला आकाश ! धरा जो भिंची पगों में
वह अपनी थी, है, उस का ऋण चुका सकूँगा
ऐसा क्या है पास, बनूँगा क्या उस क्षण पर
जिस का मैं बन्दी हूँ, जिस का स्पर्श रगों में
दौड़ रहा है, जिसे तोड़ कर स्वयं चुकूँगा—
इसे जानता हूँ, फिर भी बढ़ रहा निरन्तर !

नये वर्ष के प्रति

ओ अपरिचित
लाओगे ! क्या लाओगे !
पूछते हैं घर—
दिशाएँ,
नदी-नाले,
गाँव-जंगल—
लाओगे ! क्या लाओगे !
गन्ध पहले बौर की
या फलों पर चढ़ते सुनहरे रंग,
स्पर्श हाथों का नया
या सर्द पानी-सी छुअन निस्संग,
लाओगे ! क्या लाओगे !
बन्द कमरे
या कि दरवाज़ों-भरी दीवार,
शर्त नंगे झरोखों की
या कि गलियों-पार झोकों की उदास पुकार,
लाओगे ! क्या लाओगे !
अनछुए तट
या कि रस्तों के नये भटकाव,
धूपगन्धी पंख चिड़ियों के
कि टूटे आँधियों के पाँव,
लाओगे ! क्या लाओगे !
नया कोई शब्द शाखों के लिए,
या फिर वही की वही कूक अनाम,
नये समझौते
कि बँधती और खुलती मुट्ठियाँ निष्काम,
लाओगे ! क्या लाओगे !
निहाई पर चोट घन की
या कि छेनी से निकलते—

फूल, आँसू, ऋचाएँ, मन के रुँधे सब बोल,
गिरे पालों की उदासी
या कि जल के आइनों में काँपता भूडोल,
लाओगे ! क्या लाओगे !
नयी चा की प्यालियों में तैरता दिन
या कि हल्की भाप,
चोट खाये बादलों की टूक-टूक जिजीविषा
या फिर—
अजनमे स्वरों का चढ़ता हुआ आलाप,
लाओगे ! क्या लाओगे !
आज की यह लहर,
आज की यह हवा,
आज के ये फूल—
ये झरतीं पँखुरियाँ,
'आज'—इस ख़ामोश मिटते शब्द की
सारी उबलती अर्थवत्ता—
राह में ले कर खड़ा हूँ,
आओगे ! कब आओगे !
ये घर
दिशाएँ
नदी-नाले
गाँव-जंगल—
पूछते हैं—
लाओगे ! क्या लाओगे !
ओ अपरिचित !

स्वरमयी

'धुआँ दूधिया जैसा शीशे में होता है
वैसा कुछ व्यक्तित्व तुम्हारा' तुमने उस दिन

कहा, बात तब लगी न थी यों, पर जब छिन-छिन
मैं बिकता ही गया —शब्द स्वर का सोता है—
बात समझ में आयी, मैंने मन से पूछा :
'कितनी गूँज चुरायी है तुम ने उस स्वर से ?'
बोला कुछ भी नहीं, माप धड़कन के पर से
नहीं स्वरों का होता, मैं बस छूँछा-छूँछा
हूँ, डण्ठल ज्यों झरे फूल का रह जाता है।

लम्बे दिन के बाद शाम को भटका-भटका
कभी पहुँच जब जाता हूँ उस जगह, जहाँ पर
तुम ने बात कही थी वह, चुप बह जाता है
मन का सारा दर्द स्वरों में। जब था खटका
तब था, अब तो लिखी हुई हो तुम्हीं वहाँ पर।

दुपहरिया

झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की,
उड़ने लगी बुझे खेतों से
झुर-झुर सरसों की रंगीनी,
धूसर धूप हुई, मन पर ज्यों—
सुधियों की चादर अनबीनी,
दिन के इस सुनसान पहर में रुक-सी गयी प्रगति जीवन की।
साँस रोक कर खड़े हो गये
लुटे-लुटे-से शीशम उन्मन,
चिलबिल की नंगी बाहों में
भरने लगा एक खोयापन,
बड़ी हो गयी कटु कानों को 'चुर-मुर' ध्वनि बाँसों के बन की।
थक कर ठहर गयी दुपहरिया,

रुक कर सहम गयी चौवाई,
आँखों के इस वीराने में—
और चमकने लगी रुखाई,
प्रान, आ गये दर्दीले दिन, बीत गयीं रातें ठिठुरन की।

पूर्वाभास

धूप चिड़चिड़ी, हवा बेहया, दिन मटमैला,
मौसम पर रँग चढ़ा फागुनी, शिशिर टूटते
पत्तों में टूटा, पलाश-वन पर ज्यों फैला
एक उदासी का नभ, शोले चटक छूटते
जिस में, अरमानों से गूँजा हिया—आयगा
कल वसन्त, मन के भावों के गीतकार-सा
गा जायेगा सब का कुछ-कुछ, मौन छायगा
गन्ध-स्वरों से, गुड़ की गमक हवा को सरसा
जाती जैसे पूस माह में। नदियाँ होंगी
व्यक्त तटों की हरियाली में खिल, उघड़ा-सा
कहीं न दीखेगा जीवन, लगते जो योगी
वे अनुभूति-पके तरु फूटेंगे, जकड़ा-सा
तब भी क्या चुप रह जायेगा प्यार हमारा ?
कुछ न कहेगा क्या वसन्त का सन्ध्या-तारा ?

फागुन का गीत

गीतों से भरे दिन फागुन के ये गाये जाने को जी करता !
ये बाँधे नहीं बँधते, बाहें—

रह जातीं खुली की खुली,
ये तोले नहीं तुलते, इस पर
ये आँखें तुली की तुली,
ये कोयल के बोल उड़ा करते, इन्हें थामे हिया रहता !
अनगाये भी ये इतने मीठे
इन्हें गायें तो क्या गायें,
ये आते, ठहरते, चले जाते
इन्हें पायें तो क्या पायें,
ये टेसू में आग लगा जाते, इन्हें छूने में डर लगता !
ये तन से परे ही परे रहते,
ये मन में नहीं अँटते,
मन इन से अलग जब हो जाता,
ये काटे नहीं कटते,
ये आँखों के पाहुन बड़े छलिया, इन्हें देखे न मन भरता !

वसन्त गीत

यह कैसा वातास—
कि मन को नयन-नयन कर दिया,
गीत को चुप्पी से भर दिया,
भर दिया—यह कैसा वातास !
घर थर-थर
वन थर-थर
सारा जीवन थर-थर
यह कैसा उल्लास,
यह कैसी हाथों में सिरजन की बेचैनी,
टूटन-टूटन में रचने की नयी-नयी-सी प्यास,
यह कैसा वातास ।

आज नहीं भटकूँगा उस शिरीष के रस्ते
आज नहीं जाऊँगा रह-रह बकुल कुंज के पास—
गाओ !
आज समझ लूँगा मैं
यह बौरों की भाषा
यह रंगों की बोली
आज कि यह मन भी बौरों से लद कर झुक आया है—
गाओ !
चाहे तुम जिस स्वर में गाओ
आज समझ लूँगा मैं सब कुछ,
यह वसन्त साँसों का, स्पर्शों का
पागल कूकों का विनिमय—गाओ !
मैं क्या हूँ,
यह घर क्या है,
दीवारें क्या हैं—
आज समझ लूँगा मैं इस गाने में सब कुछ—
गाओ !
नदी किनारे दीप-दान की बेला डूब रही तो डूबे,
गाओ !
सारा बन, सारे पथ, सारी गलियाँ गूँज रहीं तो गूँजें,
गाओ !
मेरे तन की शिरा-उपशिरा बरबस टूट रहीं तो टूटें,
गाओ !
तुम क्या हो !
मेरे दुख का आखिर तुम से रिश्ता क्या है !
यह आज समझ लूँगा मैं—
इस गाने में सब कुछ, गाओ !
आह, खींच लो मेरे भीतर के सब गाने
गाओ, गाओ, गाओ !
यह कैसा वातास,
न जाने यह कैसा वातास !

पात नये आ गये

टहनी के टूसे पतरा गये
पकड़ी को पात नये आ गये !
नया रंग देशों से फूटा
वन भींज गया,
दुहरी यह कूक, पवन झूठा—
मन भींज गया,
डाली-डाली स्वर छितरा गये !
पात नये आ गये !

कोर दीठियों की कड़ुवायी
रंग छूट गया,
बाट जोहते आँखें आयीं
दिन टूट गया,
राहों के राही पथरा गये,
पात नये आ गये !

धानों का गीत

धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे
उगेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल ज़रूर ।
चन्दा को बाँधेंगे कच्ची कलगियों
सूरज को सूखी रेत में,
आना जी बादल ज़रूर !

आगे पुकारेंगी सूनी डगरिया
पीछे झुके बन-बेंत,
संझा पुकारेंगी गीली अखड़ियाँ
भोर हुए धन खेत,
आना जी बादल ज़रूर,
धान कँपेंगे कि प्रान कपेंगे
कँपेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल ज़रूर !

धूप ढरे तुलसी-बन झरेंगे,
साँझ घिरे पर कनेर,
पूजा की बेला में ज्वार झरेंगे
धान—दिये की बेर,
आना जी बादल ज़रूर,
धान पकेंगे कि प्रान पकेंगे
पकेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल ज़रूर !

झीलों के पानी खजूर हिलेंगे,
खेतों के पानी बबूल,
पछुवा के हाथों में शाखें हिलेंगी,
पुरवा के हाथों में फूल,
आना जी बादल ज़रूर,
धान तुलेंगे कि प्रान तुलेंगे,
तुलेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल ज़रूर !

रात

रात पिया, पिछवारे पहरू ठनका किया !
कँप-कँप कर जला दिया,
बुझ-बुझ कर यह जिया,
मेरा अंग-अंग जैसे,
पछुए ने छू दिया,
बड़ी रात गये कहीं पंडुक पिहका किया !
आँखड़ियाँ पगली की—
नींद हुई चोर की
पलकों तक आ-आकर
बाढ़ रुको लोर की,
रह-रह कर खिड़की का पल्ला उढ़का किया !
पथराये तारों की जोत—
डबडबा गयी,
मन की अनकही सभी
आँखों में छा गयी,
सुना क्या न तुम ने, यह दिल जो धड़का किया !

शरद प्रात

सुबह उठा तो ऐसा लगा कि शरद आ गया,
आँखों को नीला-नीला आकाश भा गया,
धूप गिरी ऐसे गवाक्ष से
जैसे काँप गया हो शीशा,
मेरे रोम-रोम ने तुम को
पता नहीं क्यों बहुत असीसा,
शरद तुम्हारे खेतों में सोना बरसाये,

छज्जों पर लौकियाँ चढ़ाये,
टहनी-टहनी फूल लगाये,
पत्ती-पत्ती ओस चुआये,
मेड़ों-मेड़ों दूब उगाये
शरद तुम्हारे बालों में गुलाब उलझाये,
छिन पल्ले का छोर ताल की ओर उड़ाये,
दूर-दूर से—
हल्के-हल्के धानों के रूमाल हिलाये
बाँसों में सीटियाँ बजाये,
गलियारों में हाँक लगाये,
मन पर, बाहों पर, कन्धों पर
हरसिंगार की डाल झुकाये,
पास कुएँ के खड़े आँवले की शाखों को खूब कँपाये,
नदी तीर की नयी रेतियों से—
दिन की सलवटें मिटाये,
लहरों में काँपता भोर का दिया सिराये,
तुलसी के तल धूप दिखाये,
चूल्हे पर उफने, गरमाये,
संग-संग बैठा आँच लगाये,
साथ-साथ रोटियाँ सिंकाये,
शरद तुम्हारे तन पर छाये,
मन पर छाये,
नये धान की गन्ध सरीखा—
घर-आँगन, जंगलों-दरवाज़ों में बस जाये
शरद कि जो मेरी खिड़की से भी—
भिनसारे दिख जाता है,
खिची धूप की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से
मेरे इस सागौन वृक्ष के पात-पात पर
नाम तुम्हारा लिख जाता है।

कुहरा उठा

कुहरा उठा,
साये में लगता पथ दुहरा उठा,
हवा को लगा गीतों के ताले
सहमी पाँखों ने सुर तोड़ दिया,
टूटती बलाका की पाँतों में
मैं ने भी अन्तिम क्षण जोड़ दिया,
उठे पेड़, घर दरवाजे, कूआँ
खुलती भूलों का रंग गहरा उठा।

शाखों पर जमे धूप के फाहे,
गिरते पत्तों से पल ऊब गये,
हाँक दी खुलेपन ने फिर मुझ को
डहरों के डाक कहीं डूब गये,
नम साँसों ने छू दी दुखती रग
साँझ का सिराया मन हहरा उठा,

पकते धानों से महकी मिट्टी
फसलों के घर पहली थाप पड़ीं,
शरद के उदास काँपते जल पर
हेमन्ती रातों की भाप पड़ी,
सूइयाँ समय की सब ठार हुईं
छिन, घड़ियों, घंटों का पहरा उठा !

टूटने दो

टूटने दो,
टूटने दो,
टूटने दो !
ठाठें मारता है एक नया भाव
मेरी धमनियों में,
हाँ, हड्डी-हड्डी को,
पसली-पसली को
नदी के अरार की तरह
टूटने दो,
टूटने दो,
टूटने दो !

अगर नहीं हैं मेरे स्वरों में तुम्हारे स्वर,
अगर नहीं हैं मेरे हाथों में तुम्हारे हाथ
अगर नहीं है मेरे शब्दों में तुम्हारी आहट,
अगर नहीं है मेरे गीतों में तुम्हारी बात—
तो ओ रे भाई,
ओ रे भाई,
मुझे पछाड़ खाये बादल की तरह
टूटने दो,
टूटने दो,
टूटने दो !

अगर रोती हैं मेरे तटों पर तुम्हारी लहरें,
अगर जलते हैं मेरी बाहों में तुम्हारे धान,
अगर बन्द हैं मेरी मुट्ठी में तुम्हारी नदियाँ
अगर क़ैद हैं मेरी छाती में तुम्हारे गान,
तो ओ रे भाई,
ओ रे भाई,

मुझे जंग-लगे लोहे की तरह
टूटने दो,
टूटने दो,
टूटने दो !

शामें बेच दी हैं

शाम बेंच दी है
भाई, शाम बेंच दी है
मैं ने शाम बेंच दी है !
वो मिट्टी के दिन, वो घरौंदों की शाम,
वो तन-मन में बिजली की कौंधों की शाम,
मदरसों की छुट्टी वो छन्दों की शाम,
वो घर-भर में गोरस की गन्धों की शाम,
वो दिन-भर का पढ़ना, वो भूलों की शाम,
वो वन-वन के बासों-बबूलों की शाम,
झिड़कियाँ पिता की, वो डाँटों की शाम,
वो बंसी, वो डोंगी, वो घाटों की शाम,
वो बाहों में नील आसमानों की शाम
व' वक्ष तोड़-तोड़ उठे गानों की शाम,
वो लुकना, वो छिपना, वो चोरी की शाम,
वो ढेरों दुआएँ, वो लोरी की शाम,
वो बरगद पै बादल की पाँतों की शाम,
वो चौखट, वो चूल्हे से बातों की शाम,
वो पहलू में क़िस्सों की थापों की शाम,
वो सपनों के घोड़े, वो टापों की शाम,
वो नये-नये सपनों की शाम बेंच दी है,
भाई शाम बेंच दी है, मैंने शाम बेंच दी है।

वो सड़कों की शाम, बयाबानों की शाम,
वो टूट रहे जीवन के मानों की शाम,
वो गुम्बद की ओट हुई झेंपों की शाम,
हाट-बाटों की शाम, थकी खेपों की शाम,
तपी साँसों की तेज़ रक्तवाहों की शाम,
वो दुराहों-तिराहों-चौराहों की शाम,
भूख-प्यासों की शाम, रुँधे कंठों की शाम,
लाख झंझट की शाम, लाख टंटों की शाम,
याद आने की शाम, भूल जाने की शाम,
वो जा-जा कर लौट-लौट आने की शाम,
वो चेहरे पर उड़ते से भावों की शाम,
वो नस-नस में बढ़ते तनावों की शाम,
वो कैफ़े के टेबल, वो प्यालों की शाम,
वो जेबों पर सिकुड़न के तालों की शाम,
वो माथे पर सदियों के बोझों की शाम,
वो भीड़ों में धड़कन की खोजों की शाम,
वो तेज़-तेज़ क़दमों की शाम बेंच दी है
भाई, शाम बेंच दी है, मैंने शाम बेंच दी है।

नयी ईंट

नयी ईंट रक्खूँगा,
नये चाँद जोड़ूँगा,
नया घर उठाऊँगा,
नयी किरन रंग दूँगा,
पर इस से क्या होगा !
जब कि साँझ उतरेगी
कुहरा छितरायेगा
ईंटोंवाला यह व्यक्तित्व बिखर जायेगा

फिर से मैं उन्हीं-उन्हीं गलियों में भटकूँगा,
उन्हीं-उन्हीं दरवाज़ों आऊँगा-जाऊँगा,
उन्हीं-उन्हीं जँगलों से झाँकूँगा,
वही रात ताकूँगा,
उसी मोड़ ठहरूँगा,
उसी छुअन सिहरूँगा,
उन्हीं-उन्हीं आँखों में डूबूँगा-तैरूँगा,
उन्हीं-उन्हीं शाखों को झटकूँगा-तोड़ूँगा,
बरबस हर डगर उसी तट पर ले जायेगी,
मुझे नया तट कोई याद कहीं करता है—
इस की सुधि आयेगी।
नयी ईंट रक्खूँगा,
नये चाँद जोड़ूँगा,
नया घर उठाऊँगा,
नयी किरन रंग दूँगा,
पर इस से क्या होगा !
जब कि साँझ उतरेगी,
कुहरा छितरायेगा,
उसी गड़ेरे की वंशी में फिर गाऊँगा,
उन्हीं-उन्हीं डगरों में
उन्हीं-उन्हीं गाछों पर,
उन्हीं-उन्हीं खेतों की मेड़ बिखर जाऊँगा !

विदा-गीत

रुको, आँचल में तुम्हारे
यह समीरन बाँध दूँ, यह टूटता प्रन बाँध दूँ।
एक जो इन उँगलियों में

कहीं उलझा रह गया है
        फूल-सा वह काँपता क्षण बाँध दूँ !

फेन-सा इस तीर पर
        हम को लहर बिखरा गयी है !
हवाओं में गूँजता है मन्त्र-सा कुछ
साँझ हल्दी की तरह
        तन-बदन पर छितरा गयी है !
पर रुको तो—
पीत पल्ले में तुम्हारे
        फ़सल पकती बाँध दूँ !
        यह उठा फागुन बाँध दूँ !

'प्यार'—यह आवाज़
        पेड़ों-घाटियों में खो गयी है !
हाथ पर, मन पर, अधर पर, पुकारों पर
एक गहरी पर्त
        झरती पत्तियों की सो गयी है !
पर रहो तो,
रुँधे गीतों में तुम्हारे
        लपट हिलती बाँध दूँ !
        यह डूबता दिन बाँध दूँ !

धूप तकिये पर पिघल कर
        शब्द कोई लिख गयी है,
एक तिनका, एक पत्ती, एक गाना—
साँझ मेरे झरोखे की
        तीलियों पर रख गयी है !
पर सुनो तो—
खुले जूड़े में तुम्हारे
        बौर पहला बाँध दूँ।
        हाँ, यह निमन्त्रण बाँध दूँ !

कमरे का दानव

डरता नहीं हूँ !
मगर उसे जब देखता हूँ, देखा नहीं जाता है।
आज भी खड़ा है वह मेरी प्रतीक्षा में—
मेरे दरवाज़े पर,
बड़े-बड़े डैनों वाला कमरे का दानव !
फूल कब खिलते हैं,
त्योहार कब आता है,
अकस्मात् मौसम किस रोज़ बदल जाता है—
उसे सब ज्ञात है।
इसी लिए कभी कुछ पूछता नहीं है,
जब बाहर से आता हूँ,
चुपके से क्षत-विक्षत डैने उठा कर
मुझे जगह दे देता है।
मानो कहता हो,
'अब बहुत थक गये हो तुम,
योद्धा, विश्राम करो !'
साँझ के धुँधलके में उठे हुए मेरे ये हाथ—
बँध जाते हैं।
कभी-कभी उस की गहरी नीली आँखों से
करुणा बरसती है।
और मुझे लगता है—
इस से क्या लड़ना है ?
और कभी ऐसा भी होता है—
लौटते हुए पथ में निश्चय कर लेता हूँ—
आज उसे चल कर ललकारूँगा !
लड़ूँगा, पछाड़ूँगा,
काले-काले उस के पंख तोड़ डालूँगा !
लेकिन जब आता हूँ,
पाता हूँ, उसी तरह

मेरी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा है वह,
कमरे का दानव, अपलक, उदास—
मेरे हाथों से संकल्प छूट जाता है।
डरता नहीं हूँ,
मगर उसे जब देखता हूँ
गुम सुम, अपलक, उदास—
देखा नहीं जाता है!

नये दिन के साथ

नये दिन के साथ—
एक पन्ना खुल गया कोरा हमारे प्यार का!
सुबह,
इस पर कहीं अपना नाम तो लिख दो!—
बहुत से मनहूस पन्नों में इसे भी कहीं भी रख दूँगा!
और जब-जब हवा आ कर
उड़ा जायेगी अचानक बन्द पन्नों को—
कहीं भीतर मोर-पंखी की तरह रक्खे हुए उस नाम को
हर बार पढ़ लूँगा।

दीप-दान

जाना, फिर जाना,
उस तट पर भी जा कर दिया जला आना,
पर पहले अपना यह आँगन कुछ कहता है,

उस उड़ते आँचल से गुड़हल की डाल
बार-बार उलझ जाती है,
एक दिया वहाँ भी जलाना;
जाना, फिर जाना,
एक दिया वहाँ जहाँ नयी-नयी दूबों ने कल्ले फोड़े हैं,
एक दिया वहाँ जहाँ उस नन्हें गेंदे ने
अभी-अभी पहली ही पँखड़ी बस खोली है,
एक दिया उस लौकी के नोचे
जिस की हर लतर तुम्हें छूने को आकुल है,
एक दिया वहाँ जहाँ गगरी रखी है,
एक दिया वहाँ जहाँ बर्तन मँजने से
गड्ढा-सा दिखता है,
एक दिया वहाँ जहाँ अभी-अभी धुले
नये चावल का गन्ध-भरा पानी फैला है,
एक दिया उस घर में—
जहाँ नयी फ़सलों की गन्ध छटपटाती है,
एक दिया उस जँगले पर जिस से
दूर नदी की नाव अक्सर दिख जाती हैं,
एक दिया वहाँ जहाँ धवरा बँधता है,
एक दिया वहाँ जहाँ पियरी दुहती है,
एक दिया वहाँ जहाँ अपना प्यारा झबरा
दिन-दिन भर सोता है,
एक दिया उस पगडण्डी पर
जो अनजाने कुहरों के पार डूब जाती है,
एक दिया उस चौराहे पर
जो मन की सारी राहें
विवश छीन लेता है,
एक दिया इस चौखट,
एक दिया उस ताखे,
एक दिया उस बरगद के तले जलाना;
जाना, फिर जाना,
उस तट पर भी जा कर दिया जला आना;

पर पहले अपना यह आँगन कुछ कहता है,
जाना, फिर जाना !

दिग्विजय का अश्व

अभी,
बिलकुल अभी,
दिग्विजय का अश्व इस पथ से गया है !
मकानों पर उड़ रही है धूल
पेड़ थर-थर काँपते हैं !
अभी, बिलकुल अभी !
हाँ, वही, बिलकुल वही था
कभी हलके झुटपुटे में जिसे देखा था !
तलहटी में, घाटियों में,
नींद की ख़ामोश गलियों-पार
जिस की डूबती टापें सुनी थीं,
हवाओं के साथ उड़ते जिसे देखा था !
हाँ, वही था, वही था वह अश्व—
इस पथ से गया है अभी, बिलकुल अभी !
हाँ, यहीं से—
इसी खिड़की से उसे मैंने पुकारा था :
'आह, ठहरो, दिग्विजय के अश्व,
मैं पहचानता हूँ !
जानता हूँ क्या लिखा है उस सुनहले पत्र में जो
तुम्हारी ग्रीवा बँधा है !
पर रुको तो—
भूलता हूँ मैं कि मैंने कब, कहाँ, किस सिन्धु-तट पर
तुम्हें छोड़ा था !

कुछ दिये ये पंख तुम को,
किधर,
किन विजयकूलों की दिशा में
तुम्हें मोड़ा था !
ओह, ठहरो, दिग्विजय के अश्व !
हवा से भी, लहर से भी,
आयु के छिन-पहर से भी—
बहुत आगे, बहुत आगे—
तुम बराबर कहीं अगले मोड़ पर हो,
और मैं चिल्ला रहा हूँ—
'आ रहा हूँ ! आ रहा हूँ !
तुम जहाँ तक हो, वहाँ तक
हाथ ये फैला रहा हूँ
आह, ठहरो, दिग्विजय के अश्व !'
और वह ठहरा नहीं,
मुड़ कर इधर देखा नहीं;
खिड़कियों को तोड़ता,
हर हाँक पीछे छोड़ता, अनसुना, अनजान,
इस पथ से गया है—
अभी बिलकुल अभी !
आह, कोई उसे रोके, उसे बाँधे
झुटपुटे में फिर कहीं वह बिला जायेगा !
चक्रवर्त्ती कहाँ है वह !
कौन है हम में !
दिग्विजय का अश्व यों ही चला जायेगा !

बादल ओ !

हम नये-नये धानों के बच्चे तुम्हें पुकार रहे हैं—
बादल ओ ! बादल ओ ! बादल ओ !

हम बच्चे हैं,
चिड़ियों की परछाईं पकड़ रहे हैं उड़-उड़ !
हम बच्चे हैं,
हमें याद आयी है जाने किन जनमों की—
आज हो गया है जी उन्मन !
तुम कि पिता हो—
इन्द्रधनुष बरसो !
कि फूल बरसो,
कि नींद बरसो—
बादल ओ !
हम कि नदी को नहीं जानते,
हम कि दूर सागर की लहरें नहीं माँगते !
हमने सिर्फ़ तुम्हें जाना है,
तुम्हें माँगते हैं।
आर्द्रा के पहले झोंके में तुम को सूँघा है—
पहला पत्ता बढ़ा दिया है।
लिये हाथ में हाथ हवा का—
खेतों की मेड़ों पर घिरते तुम को देखा है :
ओठों से विवश छू लिया है !
ओ सुनो, बीज-वर्षी बादल,
ओ सुनो, अन्न-वर्षी बादल
हम पंख माँगते हैं,
हम नये फेन के उजले-उजले
शंख माँगते हैं,
हम बस कि माँगते हैं
बादल ! बादल !
घर बादल, आँगन बादल,
सारे दरवाज़े बादल !
तन बादल, मन बादल,
ये नन्हें हाथ-पाँव बादल—
हम बस कि माँगते हैं बादल, बादल !
तुम गरजो—

पेड़ चुरा लेंगे गर्जन;
तुम कड़को—
चट्टानों में बिखर जायेगी वह कड़कन !
तुम बरसो—
फूट पड़ेगी प्राणों की उमड़न-कसकन !
फिर हम अबाध भीजेंगे, झूमेंगे—
ये हरी भुजाएँ
नील दिशाओं को छू आयेंगी—
फिर तुम्हें वनों में पाखी गायेंगे,
फिर नये जुते खेतों से हवा-हवा बस जायेगी !
फिर नयन तुम्हें जोहेंगे जूही के जादू-बन में,
आमों के पार
साँझ के सूने टीलों पर !
फिर पवन उँगलियाँ तुम्हें चीन्ह लेंगी—
पौधों में, पत्तों में, कत्थई कोंपलों में !
तुम कि पिता हो—
कहीं तुम्हारे संवेदन में भी तो वही कम्प होगा—
जो हमें हिलाता है !
ओ सुनो रंग-वर्षी बादल,
ओ सुनो गन्ध-वर्षी बादल,
हम अधजनमे धानों के बच्चे
तुम्हें माँगते हैं !

निराकार की पुकार

कल उगूँगा मैं !
आज तो कुछ भी नहीं हूँ—
धूल, पत्ती, फूल, चिड़िया, घास, फुनगी—
आह, कुछ भी तो नहीं हूँ !

कल उगूँगा मैं।
भोर से पहले तुम्हारे द्वार पर
या रास्ते में
खँडहरों के पास,
या फिर किसी अनदेखे, उपेक्षित कूल पर
कल उगूँगा मैं !
ओ सुनो !
बीज हूँ मैं एक ऐसे अन-उगे दिन का—
जो तुम्हारी मुट्ठियों से किसी हलके झुटपुटे में
कसमसा कर गिर पड़ा था।
और जिस को किसी खुलती आँख ने—
वीरान, जंगल, पहाड़ों या गुम्बदों या पुलों की मेहराब से
उठते हुए देखा नहीं है।
कल उठूँगा मैं !
तुम मुझे चीन्हो न चीन्हो,
बहुत सम्भव है कि कल तड़के तुम्हारे बिस्तरे पर
एक छोटी-सी किरन बन कर झरोखे से गिरूँ !
या एक झोंके की तरह आ कर कँपा जाऊँ तुम्हें।
या चुप तुम्हारे बगीचे में
एक छोटा-सा नया पौधा कहीं बन कर उगूँ !
या फिर तुम्हारी बाँह पर
सहसा विजय की काँपती जय-माल बन कर चू पड़ूँ।
या कुछ नहीं तो
बहुत सम्भव है, किसी सागर किनारे
दूर पर जाते हुए जल-यान की शुभ-कामना में
एक बुझती साँझ का रूमाल बन कर हिल उठूँ !
एक नन्हा बीज मैं अज्ञात नवयुग का,
आह, कितना कुछ—सभी कुछ—न जाने क्या-क्या—
समूचा विश्व होना चाहता हूँ !
भोर से पहले तुम्हारे द्वार—
तुम मुझे देखो न देखो—
कल उगूँगा मैं !

■ ■

कुँवर नारायण

परिचय

•

[कुँवर नारायण—जन्म फ़ैज़ाबाद में अगस्त १९२७ में; शिक्षा लखनऊ में; इण्टर तक विज्ञान विषय ले कर तथा एम० ए० में अंग्रेज़ी साहित्य। 'शिक्षा की जो पद्धति स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्याल में रही, उस से मन सदा विद्रोह करता रहा, इस लिए शायद स्कूली अर्थ में कभी भी बहुत उत्कृष्ट विद्यार्थी नहीं हो सका।'

आरम्भ से ही पढ़ने और घूमने का बहुत शौक़ रहा है, और दोनों के लिए पर्याप्त अवसर भी मिलता रहा। सन् १९५५ ई० में चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, रूस और चीन का भ्रमण किया—यह कई तरह से महत्त्वपूर्ण रहा।'

कविता पहले-पहल सन् १९४७ में अँगरेज़ी में लिखना आरम्भ किया, पर शीघ्र ही हिन्दी की ओर प्रवृत्ति हुई और तब से नियमित रूप से हिन्दी में लिखने लगे।

सन् १९५६ से, उस पत्रिका के बन्द होने तक, युगचेतना के सम्पादक-मण्डल में रहे। अब मोटर के व्यवसाय में मुब्तिला रहते हैं—और अपनी इस व्यस्तता से स्वयं त्रस्त : 'फ़िक्रे-दुनिया में सर खपाता हूँ, मैं कहाँ और ये बवाल कहाँ!'

दो कविता-संग्रह प्रकाशित : चक्रव्यूह और परिवेश : हम-तुम। नचिकेता की कथा पर खण्ड-काव्य आत्मजयी सन् १९६५ में प्रकाशित हुआ।]

वक्तव्य

तीसरा सप्तक के किसी भी कवि के लिए शायद उन पूर्वग्रहों की उपेक्षा कर सकना कठिन है जो पिछले दो सप्तकों को ले कर नयी कविता के प्रति बन गये या बनाये गये। कहाँ तक **तीसरा सप्तक** उन सप्तकों का परिशिष्ट मात्र होगा और कहाँ तक उस का अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होगा, यह बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि नया कवि उपस्थित काव्य-समस्याओं के प्रति कितना सचेत है और उन्हें पिछली समस्याओं से किन अर्थों में भिन्न मानता है। दो सप्तकों की जो ग़लत-सही साहित्यिक आलोचनाएँ हुईं वे भले ही नयी कविता के ऐतिहासिक महत्त्व को ठीक से स्पष्ट न कर पायी हों, किन्तु राजनैतिक मतों या आग्रहों के आधार पर कविता में जो दीवारें उठाने का प्रयत्न किया गया उसने अवश्य कुछ ऐसी कृत्रिम और ग़लत समस्याएँ खड़ी कर दीं जिन का निराकरण साहित्यिक सतह पर कठिन हो गया।

साहित्य जब सीधे जीवन से सम्पर्क छोड़ कर वादग्रस्त होने लगता है, तभी उस में वे तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो उस के स्वाभाविक विकास में बाधक हों। जीवन से सम्पर्क का अर्थ केवल अनुभव मात्र नहीं, बल्कि वह अनुभूति और मनन-शक्ति भी है जो अनुभव के प्रति तीव्र और विचारपूर्ण प्रतिक्रिया कर सके। कोई अनुभव सार्थक तभी माना जायेगा जब वह किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम में प्रतिफलित हो; और यह बिना एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रख कर चले सम्भव नहीं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेरा अभिप्राय उस सहिष्णु और उदार मनोवृत्ति से है जो जीवन को किसी पूर्वग्रह से पंगु कर के नहीं देखती बल्कि उस के प्रति एक बहुमुखी सतर्कता बरतती है। कलाकार या वैज्ञानिक के लिए जीवन में कुछ भी अग्राह्य नहीं : उस का क्षेत्र किसी वाद या सिद्धान्त-विशेष का संकुचित दायरा न हो कर वह सम्पूर्ण मानव-परिस्थिति है जो उस के लिए एक अनिवार्य वातावरण बनाती है और जिसे उस का जिज्ञासु स्वभाव बराबर सोचता-विचारता रहता है।

इस बात को कुछ और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मैं आर्नल्ड के शब्दों में व्यापक अर्थ में कविता को 'जीवन की आलोचना' मानता हूँ। एक अच्छे आलोचक के लिए यथासम्भव निष्पक्ष होना जितना आवश्यक है, एक अच्छे कवि के लिए भी उतना ही; और इसी लिए उस का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना, कम से कम आधुनिक युग में अत्यन्त आवश्यक है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्यत: नीरस दृष्टिकोण है, इसे मैं मानने के लिए तैयार नहीं। ठीक से समझा जाय तो कविता में भी मूलत: कृतित्व की कुछ वैसी ही-सी प्रक्रियाएँ निहित हैं जैसी वैज्ञानिक प्रयोगों में। जो बुनियादी जिज्ञासा एक वैज्ञानिक को, रूढ़ि की उपेक्षा कर के भी, यथार्थ की गूढ़ तहों में पैठने के लिए बाध्य करती है, खोज की वही रोमांचकारी प्रवृत्ति कवि को भी अज्ञात के विराट् व्यक्तित्व में भटकाती रहती है। भौतिक शास्त्र के बहुत से सिद्धान्त सूत्रबद्ध होने से पहले बहुत कुछ वैसी ही-सी मानसिक प्रक्रियाओं से गुज़रते हैं जिन से कविता भाषाबद्ध होने से पहले : दोनों में निकट काल्पनिक सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही एक विशेष प्रज्ञा द्वारा विश्वसनीय सत्य तक पहुँचना चाहते हैं।

किन्तु जब मैं वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय उन सिद्धान्तों या मतों से उतना नहीं जिन्हें मार्क्स, फ्रायड, आइनस्टाइन, न्यूटन या डार्विन स्थापित कर गये जितना उस बौद्धिक स्वतन्त्रता से है जो सदा से जीवन के प्रति निडर और अन्वेषी प्रश्न उठाती रही है। मुझे वह 'एप्रोच' पसन्द है जो किसी भी सत्य को स्वयं में अन्त न मान कर उसे अगले सत्य तक पहुँचने का साधन मानता है : जिस के लिए सत्य का अर्थ अपने से बड़े सत्य में विकसित हो सकने की सक्रियता है, रास्ते का पहाड़ बन जाने की जड़ता नहीं। मेरे लिए स्थापित सत्य—चाहे वे राजनैतिक हों, चाहे सामाजिक, चाहे शास्त्रीय,—उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी वह बुद्धि जिसने उन सत्यों को जन्म दिया। सिद्धान्तों में ग़लतियाँ हो सकती हैं, उन्हें जीवन पर लागू करने में ग़लतियाँ हो सकती हैं, नितान्त उदार और वैज्ञानिक मान्यताएँ अन्धविश्वासी नारे बना दिये जा सकते हैं, पर यदि एक ही आस्था रक्खी जा सकती है तो मनुष्य की उस संयत और निस्पृह बुद्धिमत्ता में ही, जो भरसक सत्यों की मौसमी सरगर्मी से बच कर धैर्य के साथ जीवन को उस की सम्पूर्णता में समझने का प्रयत्न करती रही है।

ऊपर कही बातों का कविता के सन्दर्भ में स्पष्ट करना आवश्यक है। कविता की विस्तृत व्याख्या तो यहाँ सम्भव नहीं, पर कुछ सहायक संकेत अवश्य किये जा सकते हैं। मेरी कविताओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण मुख्यतः तीन प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है :

१. **विचार-पक्ष की प्रधानता को,** मैं आशा करता हूँ, एकदम बौद्धिक रुखाई से जोड़ लेने की जल्दी न की जायेगी। कविता मेरे लिए कोई भावुकता की हाय-हाय न हो कर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है। संक्षेप में, कविताएँ विचार-वस्तु की दृष्टि से कुछ इस प्रकार रूप-बद्ध हुई हैं :

अस्तित्व की मैंने दो बुनियादी परिस्थितियाँ मानी हैं—एक तो व्यक्ति और अज्ञात; तथा दूसरी, व्यक्ति और उस का सामाजिक वातावरण। अस्तित्व की आस्था सम्बन्धी समस्याएँ मूलतः अनस्तित्व की भयानक शून्यता से उपजती हैं। पास्काल का यह वाक्य कि "अनन्त विस्तार का अटूट मौन मुझे भयभीत करता है" उस मूल वेदना का आरम्भ है जहाँ मनुष्य अपने को, मृत्यु की निश्चित और बाद की अनिश्चित सम्भावनाओं के बीच बिलकुल अकेला पाता है—जहाँ वह अपने अल्प और असार जीवन को आनेवाले महाशून्य के सन्तुलन में विचारता है—जहाँ "मैं क्या हूँ? मैं क्यों हूँ?" का चिर-असन्तुष्ट प्रश्न जीवन की हर आस्था को रौंदता रहता है।

इस से भिन्न वह वस्तुवादी पक्ष है जो परोक्ष के प्रति सर्वथा निरपेक्ष रह कर सामाजिक यथार्थ को ही सम्पूर्ण सत्य मान कर चलता है : जिस के लिए व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता ही उस के जीवन की परम सार्थकता है : जो जीवन के प्रत्यक्ष मूल्यों के आगे किसी अतिभौतिक रहस्य को नहीं मानता।

मेरी कविताओं में उपर्युक्त दोनों ही पक्षों से जीवन की तथा उस की सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक आदि संचित और सम्भावित मान्यताओं की विवेचना मिलेगी।

२. **कविता का संगठन,** उस की बनावट और डौल का सब से महत्त्वपूर्ण अंश है। मैं कविता के किसी पूर्व-निर्मित आकार को ही अन्त न मान कर उस की विकासशील सम्भावनाओं को अधिक महत्त्व देता हूँ। शब्द, बिम्ब, लय, भाव, आदर्श के सम्मिलित वातावरण में सक्रिय एक काव्य-कारण को कुछ उसी प्रकार एक अविच्छिन्न व्यक्तित्व में विकसित

होना चाहिए जैसे उपयुक्त जल-वायु में उपजाया हुआ चेतन बीज। कविता-विशेष का यही विश्वसनीय व्यक्तित्व उस की स्वीकृति की सच्ची दलील होगी। स्पष्ट है कि इस दिशा में—यदि इसी साम्य को और आगे बढ़ायें—सही मसली प्रयोग भी तभी किये जा सकते हैं जब कि प्राप्त काव्य-सामग्री से कवि अधिक से अधिक परिचित हो और उस का वैज्ञानिक ढंग से उपयोग कर सके।

३. प्रयोग : प्रयोग का महत्त्व किसी वाद से सम्बन्धित कर के समझना ग़लत है। जैसा मैं पहिले ही संकेत कर चुका हूँ, प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि-कोण का स्वाभाविक उपप्रमेय है—एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। मेरी कविताओं में प्रयोग का आधार मुख्यतः भाषा-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी प्रश्न रहे हैं। उन सभी प्रश्नों को तो यहाँ नहीं उठाया जा सकता, पर उदाहरण के लिए दो-एक की चर्चा करूँगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की भाषा, यानी खड़ी बोली, कठिनता से ५०–६० वर्ष पुरानी कही जा सकती है। अँगरेज़ी के कारण वह न तो पूरी तरह से शिक्षित वर्ग की ही भाषा रही है, और न साधारण बोल-चाल की। अपने से अधिक समृद्ध भाषाओं के ऐसे जंगल में वह उगती रही जिस में उसे एकच्छत्र फैलने का मौक़ा नहीं मिला। कुछ ऐतिहासिक कारणों से उसे अब एक ऐसी चेतना की आवाज़ बनना पड़ रहा है जो अनुपात में उस से कहीं अधिक विकसित है : दूसरे शब्दों में, एक ५० वर्षकी बाल-भाषा को युग के ऐसे प्रौढ़ व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देनी है जिस की जान-कारी के पीछे ३००० साल पुरानी परम्परा और सामने आधुनिक जीवन के सैकड़ों नये नये पहलू हैं।

कुछ इसी पक्ष से सम्बन्धित छन्दों की भी समस्या है : खड़ी बोली को विरासत में जो छन्द मिले वे पहले ही संस्कृत, व्रजभाषा और अवधी के स्वभाव में ढल चुके थे : उन में बँधी कविता बरबस उन्हीं काव्य-परम्पराओं की गन्ध देती हैं। एक ही भाव या विचार को विविध छन्दों में रच कर देखा जा सकता है कि कैसे छन्द-विशेष के अनुरूप ही भाव अपना प्रभाव भी बदल लेते हैं। अत: ज़बरदस्ती किसी नये विचार को पुराने छन्द में कसना उस की जान लेना भी हो सकता है, यद्यपि इस का यह अर्थ नहीं कि कोई भी आधुनिक पहलू पुराने छन्दों में समाविष्ट हो ही नहीं सकता। कुछ विषय ऐसे होते हैं जो कविता से एक स्वतन्त्र संगठन की माँग करते हैं, जिन्हें कोई बना-बनाया छन्द 'रेडी-मेड' कपड़ों की तरह

नहीं पहनाया जा सकता, बल्कि जिन के लिए भाषा और छन्दों को दूसरी तरह काँटना-छाँटना पड़ता है, ताकि उन का अपना व्यक्तित्व उभर सके, उन पर भाषा उतरन न मालूम दे। छन्द, जिन्हें कविता का कारण कहना शायद ग़लत न होगा, कविता के विकास में कुछ उसी प्रकार टूटते और बनते चलते हैं जैसे भाषा के विकास में व्याकरण। इस का यह मतलब नहीं कि छन्दों का नियन्त्रण अनावश्यक है, बल्कि यह कि प्रयोगों और परिवर्तनों के मूल में जब ऐतिहासिक अनिवार्यता हो तभी उस का औचित्य सिद्ध हो सकता है।

ऊपर की कुल विवेचना के बाद भी शायद एक बिलकुल व्यावहारिक प्रश्न की गुंजाइश है : कि आखिर कविता है क्या ? व्यक्तिगत रूप से मुझे कविता को कुछ इस प्रकार समझना अच्छा लगता है :—

जीवन के इस बहुत बड़े 'कार्निवाल' में कवि उस बहुरूपिये की तरह है जो हज़ारों रूपों में लोगों के सामने आता है, जिस का हर मनोरंजक रूप किसी न किसी सतह पर जीवन की एक अनुभूत व्याख्या है और जिस के हर रूप के पीछे उस का एक अपना गम्भीर और असली व्यक्तित्व होता है जो इस सारी विविधता के बुनियादी खेल को समझता है।

—कुंवर नारायण

■

ये पंक्तियाँ मेरे निकट

ये पंक्तियाँ मेरे निकट आयीं नहीं,
मैं ही गया उन के निकट
उन को मनाने,
ढीठ, उच्छृंखल अबाध्य इकाइयों को
पास लाने :

कुछ दूर उड़ते बादलों की बेसँवारी रेख,
या खोते, निकलते, डूबते, तिरते
गगन में पक्षियों की पाँत लहराती :
अमा से छलछलाती रूप-मदिरा देख
सरिता की सतह पर नाचती लहरें,
बिखेरे फूल अल्हड़ वनश्री गाती···

···कभी भी पास मेरे नहीं आये :
मैं गया उन के निकट उन को बुलाने,
ग़ैर क़ो अपना बनाने :
क्योंकि मुझ में पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी
जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर
कुछ सम्बन्ध रखती उन परायी पंक्तियों से !
और जिस की गाँठ भर मैं बाँधता हूँ
किसी विधि से
विविध छन्दों के कलावों से।

गहरा स्वप्न

सत्य से कहीं अधिक स्वप्न वह गहरा था
प्राण जिन प्रपंचों में एक नींद ठहरा था :

भग्नावशेषों की दुर्व्यवस्थ छायाएँ
झुलसी हुई लपटों-सी ईर्ष्यालु,
जीवन के शुद्ध आकर्षण पर गुदी हुई··

काल की समस्त माँग
बूढ़ी दुनिया अपंग :

आदि से अन्त तक,
अन्त से अनन्त तक,
देखा पर्यन्त तक,
मौन हो बोल कर
जीवन के परतों की
कई तहें खोल कर··

पहलदार सत्यों का छाया-तन इकहरा था,
जीवन का मूलमन्त्र सपनों पर ठहरा था।

दर्पण

वस्तु का दर्पण उधर सुनसान,
जो अपनों बिना वीरान,

इधर धूसर बुद्धि जो अति
ज़िन्दगी के प्रति
उठाती स्वप्न की प्रतिध्वनि :

कुछ अवनि के अंक से आश्वस्त,
कुछ ऊँचाइयों से पस्त,
दृष्टियों में जन्म लेता प्यार :
दर्पण की सतह पर तैर आये
जिस तरह कोई निजीपन ।

ख़ामोशी : हलचल

कितना ख़ामोश है मेरा कुल आस-पास,
कितनी बेख़्वाब हैं सारी चीज़ें उदास,

दरवाज़े खुले हुए, सुनते कुछ, बिना कहे,
बेवक़ूफ़ नज़रों से मुँह बाये देख रहे :

चीज़ें हैं, चीज़ें बेजान हैं,
फिर भी यह लगता है बेहद परेशान हैं,
मेरी नाकामी से ये भी नाकाम हैं,
मेरी हैरानी से ये भी हैरान हैं :

टिक-टिक कर एक घड़ी चुप्पी को कुचल रही,
लगता है दिल की ही धड़कन को निगल रही,

कैसे कुछ अपने-आप गिर जाये, पड़ जाये,—
ख़नक कर भनक कर लड़ जाये भिड़ जाये ?

लगता है, बैठा हूँ भूतों के डेरे में,
सजे हुए सीलबन्द एक बड़े कमरे में,

सदियों से दूर किसी अन्धे उजियाले में
अपनों से दूर एक पिरामिडी घेरे में :

एक-टक घूर रहीं मुझ को बस दीवारें,
जी करता उन पर जा यह मत्था दे मारें,
चिल्ला कर गूँजों से पत्थर को थर्रा दें···
घेरी ख़ामोशी की दीवारें बिखरा दें,

इन मुरदा महलों की मीनारें हिल जायें,
इन रोगी ख़्यालों की सीमाएँ घुल जायें,
अन्दर से बाहर आ सदियों की कुण्ठाएँ
बहुत बड़े जीवन की हलचल से मिल जायें।

जाड़ों की एक सुबह

रात के कम्बल में
दुबकी उजियाली ने
धीरे से मुँह खोला,
नीड़ों में कुलबुल कर,
अलसाया-अलसाया,
पहला पंछी बोला :

दूर कहीं चीख़ उठा
सीले स्वर से इंजन,
भर्राता, खाँस-खूँस
फिर छूटा कहँर-कहँर,
कड़ुवी आवाज़ों से
ख़ामोशी चलनी कर,
सिसकी पर सिसकी भर
गयी ट्रेन क्षितिज पार :

क्रमशः ध्वनि डूब चली,
चुप्पी ने झुँझला कर
मानो फिर करवट ली,
ओढ़ लिया ऊपर तक
खींच सन्नाटे को,
धीरे से उढ़का कर
निद्रा के खुले द्वार :

बह निकली तेज़ हवा
पेड़ों से सर-सर-सर,
काँप रहे ठिठुरे-से
पत्ते थर-थर थर-थर,
शबनम से भीगे तन
सुमन खड़े सिहर रहे,
चितकबरी नागिन-सी
भाग रही शीत रात,
लुक-छिप कर आशंकित
लहराती पौधों में
बिछलन-सी चमकदार,
छोड़ गयी कोहरे की
केंचुल अपने पीछे,
डँसती ठंडी बयार :

तालों के समतल तल
लहरों से चौंक गये
सपनों की भीड़ छँटी,
निद्रालस पलकों से
मँड़राते चेहरों की
व्यक्तिगत रात हटी;

धीमे हलकोरों में
नीम की टहनियों का
निर्झर स्वर मर्मर कर

ढरता है वृक्षों से
प्राणों में हर-हर भर,
शिशुवत् तन-मन दुलार :

फूलों के गुच्छों से
मेघ-खंड रंग-भरे,
झुक आये मख़मल के
खेतों पर रुक ठहरे,
पहिनाते धरती को
फुलझड़ियों के गजरे;

प्राची के सोतों से
मीठी गरमाहट के
फ़व्वारे फूट रहे,
धूप के गुलाबी रंग
पेड़ों की गीली
हरियाली पर छूट रहे,
चाँद कट पतंग-सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे गिरता जाता....
किलकारी भर-भर खग
दौड़-दौड़ अम्बर में
किरण-डोर लूट रहे :

मैला तम चीर-फाड़
स्वर्ण-ज्योति मचल रही,
डाह-भरी, रजनी के
आभूषण कुचल रही,
फेंक रही इधर-उधर
लत्ते-सा अन्धकार।

रात चितकबरी

चाँदनी सित रात चितकबरी,
डसे भूखंड की गंजी सतह पर
खोह से खँडहर,
कपालों में धँसा ज्यों रेंगता मनहूस अँधियारा :

अचानक चौंक कर
बुत छाँव में दो पंख फड़के,
ज्यों किसी स्मृति ने
कँगूरों पर खड़े हो
दूर की मेहराब में घुसती हुई
प्रेतात्माओं को पुकारा :

"प्यार की अतृप्त खण्डित आत्मा!
आश्वस्त हो :
वह दर्द जीवित है तुम्हारा!"

लुढ़क पड़ी छाया

चाँद से लुढ़क पड़ी छाया घनी,
एक बूढ़ी रात ओढ़े चाँदनी;

एक फीकी किरण सूजी लाश पर,
स्वप्न कोई हँस रहा आकाश पर;

देह से कुल भूख ग़ायब, कुलबुलाती आँत;
खोपड़ी से देह ग़ायब, खिलखिलाते दाँत :

एक सूखा फूल ठण्डी क़ब्र पर,
एक करुणादृष्टि लाखों सब्र पर···

वसन्त की एक लहर

वही जो कुछ सुन रहा हूँ कोकिलों में,
वही जो कुछ हो रहा तय कोपलों में,
वही जो कुछ ढूँढ़ते हम सब दिलों में,
वही जो कुछ बीत जाता है पलों में,
—बोल दो यदि···

कीच से तन-मन सरोवर के ढँके हैं,
प्यार पर कुछ बेतुके पहरे लगे हैं,
गाँठ जो प्रत्यक्ष दिखलाई न देती—
किन्तु हम को चाह भर खुलने न देती,
—खोल दो यदि···

बहुत सम्भव, चुप इन्हीं अमराइयों में
गान आ जाये,
अवांछित, डरी-सी परछाइयों में
जान आ जाये,
बहुत सम्भव है इसी उन्माद में
वह दीख जाये
जिसे हम-तुम चाह कर भी
कह न पाये :

वायु के रंगीन आँचल में
भरी अँगड़ाइयाँ बेचैन फूलों की
सतातीं—

तुम्हीं बढ़ कर
एक प्याला धूप छलका दो अँधेरे हृदय में—
कि नोचे बेझिझक हर दृश्य इन मदहोश आँखों में
तुम्हारा स्पर्श मन में सिमट आये
इस तरह
ज्यों एक मीठी धूप में
कोई बहुत ही शोख़ चेहरा खिलखिला कर
सैकड़ों सूरजमुखी-सा
दृष्टि की हर वासना से लिपट जाये !

दो बत्तख़ें

दोनों ही बत्तख हैं,
दोनों ही मानी हैं,
छोटी-सी तलैया के
राजा और रानी हैं;

गन्दे हों, सौदे दों,
मुझ को मराल हैं,
हीरे के दो टुकड़े,
गुदड़ी के लाल हैं,

कीचड़ में जीवन है
पानी का पानी है,
कहने को पंछी हैं,
उड़न को कहानी हैं;

क्या जाने कहाँ गये
कीड़ों को देख-भाल,
कविता-से सुन्दर थे,
सूना कर गये ताल !

शाहज़ादे की कहानी

कभी बचपन में सुनी थी
शाहज़ादे की कहानी
याद आता है :
समुन्दर पार कैसे दानवी
माया-नगर में वह बिचारा
भूल जाता है,
भटकता, खोजता, पर अन्त में
राज़ी-ख़ुशी घर
लौट आता है...

आज पर जब एक दानव
शिशु मनोरथ के घरौंदे
रौंद जाता है
न जाने क्यों सदा को एक नाता
इस व्यथा का उस कथा से
टूट जाता है,
और मुझ को कहीं समयातीत
हो जाना
अधिक भाता है।

गुड़िया

मेले से लाया हूँ इस को
छोटी-सी प्यारी गुड़िया,
बेच रही थी इसे भीड़ में
बैठी नुक्कड़ पर बुढ़िया :

मोल-भाव कर के लाया हूँ,
ठोक-बजा कर देख लिया,
आँखें खोल-मूँद सकती है,
कह सकती है पिया-पिया :

जड़ी सितारों से है उस की
चुँनरी लाल रंगवाली,
बड़ी भली हैं उस की आँखें
मतवाली काली-काली :

ऊपर से है बड़ी सलोनी,
अन्दर गुदड़ी है तो क्या,
ओ गुड़िया तू इस पल मेरे
शिशु-मन पर विजयी माया :

रक्खूँगा मैं तुझे खिलौनों की
अपनी अलमारी में,
काग़ज़ के फूलों की नन्हीं
रँगारंग फुलवारी में :

नये-नये कपड़े-गहनों से
तुझ को रोज़ सजाऊँगा,
खेल-खिलौनों की दुनिया में
तुझ को परी बनाऊँगा :

ओ गुड़िया उठ नाच छमा-छम,
तू रानी महरानी है :
गुड्डे दिल को थामे बैठे,
तेरी ग़ज़ब जवानी है :

तेरे रूप-रंग पर आधी
दुनिया ही दीवानी है :
राज कर रही तू हर दिल पर,
अक्किल पानी-पानी है।

कपड़ा ला दूँ, ज़ेवर ला दूँ,
बिन्दी ला दूँ, टिकली—
बीच-बज़ार आज तू गुड़िया
मेरे हाथों बिक ली :

तुझे मसख़रा नौकर ला दूँ :
ला दूँ बुद्धू दूल्हा,
तू इतराती घूम और वह
घर पर फूँके चूल्हा :

तू है खेल, खिलाड़ी मैं हूँ,
स्वाँग रचाऊँ ख़ासा :
सब नादान, अनाड़ी सब हैं,
दुनिया बने तमाशा।

भुतहा घर

बिल्कुल वीरान,
मानों हो स्मशान,
बरसों से ख़ाली है
यह ख़ाली मकान :

इस का कोई नहीं
वर्तमान या भविष्य,
इस में बस रहता है
एक भूत
विद्यमान।

शतरंज

न खेलूँ अगर शतरंज ऐसी ग़लत शर्तों पर
कि जिस में सभी चालें, बस, तुम्हारी हों ?—
न हो स्वीकार यदि यह खेल मुझ को
जीतना जिस को
तुम्हारी बदनीयत हो—
और जिस में हारना मेरी नियति हो ?

श्वेत, काले, चारख़ानों पर
फ़िसलते मोहरों की आस्था को मैं न मानूँ,—
खेल के उस ओर वाले पक्ष को
मैं सरासर अन्याय मानूँ,—
और इस खिलवाड़ की मजबूरियों से ऊब
उठ जाऊँ बिना कुछ कहे
अपनी हार से पहले ?—
उलट दूँ या बिछी बाज़ी
बिना माने—बिना खेले ?

अगर तुमने यही चाहा
कि मैं भी खेलता तुम से
तुम्हारी ही तरह दिल से,
तो मेरे पाँव भी उस न्याय पर टिकते
जहाँ से शह बराबर डाल सकता मैं
तुम्हारी ही तरह··
मुझे भी ग़लत बाज़ी को मिटा कर
फिर सिरे से खेल सकने की वही सामर्थ्य दी होती !

साहसी डैने

पंख जागे—
नींद का अविचल
मुलायम थाप से टूटा :
सितारों के करोड़ों बीज
नम आकाश में डूबे,
उगी किरणें—तरुण तन, सिक्त मन, आसक्त आनन,
असित तम मानो किसी अभिशाप से छूटा :
सवेरा
खिलखिलाती ज़िन्दगी से भर गया,
हर स्वप्न बीती रात का
हर फूल ने लूटा।

पंख जागे,
और आगे—

थाम अपने कम्पनों में
व्योम का निष्कम्प
बढ़ते,
भूमि के संक्षेप में रख निज परिधि के मर्म—

जागे पंख
अपने अंग से आगे
धरा का मूढ़ आकर्षण तिरस्कृत कर।

अरे ये साहसी डैने,
किधर ? किस व्योम के सन्तुलन में घटते चले जाते ?
प्रकृति का अदृश्य आलिंगन हटाने, जूझते, थकते चले जाते ?

कहाँ अपने स्वयं से दूर
मिट्टी के सुनहले पंख जागे
भोर ही बढ़ते चले जाते ?

बराबर और आगे···और आगे···
छिड़े, उद्यमी पंख जागे,
दूर
नभ के गर्भ में शिशुवत् हुए जाते,
अजन्मे सूक्ष्म के अति पास;
अपनी मृत्यु से आगे।

सम्पाती

धीमा कर दो प्रकाश।
घायल, सूर्योन्मुख,
असन्तुष्ट, उत्पाती :
फेनों का विप्लव बन
लहरों पर तितर-बितर
दग्ध-पंख सम्पाती :
ठंढे अँधेरे के एक सुखद फाहे को
जलती शिराओं पर···

धीमा कर दो प्रकाश।
मोम की दीवारें
गल न जायें,
सपनों के लाक्षागृह
जल न जायें,
प्यार के पैमाने
—द्रवित नेत्र—
छल न जायें···

धीमा कर दो प्रकाश
काँच के गुब्बारे,
सोने की मछलियाँ,

कुछ नकली चेहरे,
कुछ मिली-जुली आकृतियाँ,
ओस की बूँदों-से चमक रहे रजत-द्वीप
घुल न जायें···

धीमा कर दो प्रकाश।
पर्णकुटी की छाया शीतल है,
पाँवों के नीचे फिर धरती का दृढ़ तल है :

गर्म देह,
नील नयन,
क्षितिज पार
उड्डयन,
प्राणों में एक जलन :
उस ज्वलन्त आँधी की
स्मृतियाँ
फिर मिल न जायें···

धीमा कर दो प्रकाश।

टूटा तारा

तारा दीखा :
तम के अथाह में वह नन्हीं-सी ज्योति-शिखा
मन से कुछ नाता जोड़ गयी।

तारा चमका :
अजनबी परायी दुनिया से ममता आ कर
कुछ मोह हृदय में छोड़ गयी।

तारा टूटा :
आलोक-विमज्जित स्फुलिंग की वह दरार
सहसा छाती को तोड़ गयी ।

तारा फूटा :
भू तक झपटी विह्वल चिनगी की दिव्य धार
तम के अलंघ्य को फोड़ गयी ।

तारा खोया :
पर गति उस की मेरी भी जीवनगति सहसा
अज्ञात दिशा में मोड़ गयी ।

उतने नहीं

कभी लगता, खो गया हूँ,
और जिन के बीच मेरी वेदनाएँ डोलतीं असहाय,
अपने नहीं :

जैसे सो गया हूँ,
नींद से कुछ-कुछ समझता-सा कि असली भूख, असली हाय,
सपने नहीं :

जितना बँध गया हूँ
देह के प्रति, विश्व के प्रति; आत्मा के नियत लौकिक दाय
उतने नहीं :

ज़्यादा थक गया हूँ
देख सूनाकाश; शायद पंख के बल आज भी निरुपाय
इतने नहीं ।

घर रहेंगे

घर रहेंगे, हमीं उन में रह न पायेंगे :
समय होगा, हम अचानक बीत जायेंगे :
अनर्गल ज़िन्दगी ढोते किसी दिन हम
एक आशय तक पहुँच सहसा बहुत थक जायेंगे।

मृत्यु होगी खड़ी सन्मुख राह रोके,
हम जगेंगे यह विविधता, स्वप्न, खो के,
और चलते भीड़ में कन्धे रगड़ कर हम
अचानक जा रहे होंगे कहीं सदियों अलग हो के।

प्रकृति औ' पाखंड के ये घने लिपटे
बँटे, ऐंठे तार,—
जिन से कहीं गहरा, कहीं सच्चा,
मैं समझता—प्यार,
मेरी अमरता की नहीं देंगे ये दुहाई,
छीन लेगा इन्हें हम से देह-सा संसार।

राख-सी साँझ, बुझे दिन की घिर जायेगी :
वही रोज़ संसृति का अपव्यय दुहरायेगी।

हम

हम शायद वर्तमान का असली रूप नहीं :
हम कुछ अतीत हैं—
जिस का भावी स्वप्न अभी घटने वाला।
हम-तुम परिचित हैं अपने लाखों सपनों से :

हम शायद वर्तमान का असली रूप नहीं :
हम कुछ भविष्य हैं
अभी नहीं जो घटित हुआ,—
जिस को अतीत ने देखा था।
हम-तुम परिचित हैं पिछले लाखों सपनों से :

हम एक इशारा हैं दो भिन्न दिशाओं में,
हम से हो कर सदियों के प्रश्न गुज़रते हैं :
हम एक व्यवस्था है क्षण-भंगुर जीवन की
जो हर क्षण को सपनों से जीवित रखते हैं !

जो सोता है

जो सोता है उसे सोने दो
वह सुखी है,
जो जगता है उसे जगने दो
उसे जगना है,
जो भोग चुके उसे भूल जाओ
वह नहीं है,
जो दुखता है उसे दुखने दो
उसे पकना है,
जो जाता है उसे जाने दो
उसे जाना है,
जो आता है उसे आने दो
वह अपना है,
जो रहा है जो रहेगा
उसे पाना है,
जो मिटता है उसे मिटने दो
वह सपना है !

पगडण्डी

रात के हौले स्पन्दन में निरापद
मैं अनींद पथ हूँ।

पूर्व से उत्तर तक,
जन-वन के आर्द्र सन्नाटे में अनायास
फेंकी हुई पगडण्डी,
युग की अविराम चलित राहों से बहुत दूर
अन्ध-रचित गैल एक,
अकस्मात दिशा एक—
किसी देन की उदार इच्छा से अर्थपूर्ण।

किसी गोधूली में,
वीणा के स्वर-सी भटकती
ओ रूपवती, ज्योति के ग़ुबार में
मैंने तुझे देखा है :
आज भी स्मृति वह मन के वातायन में
लौट-रही किरणों की
अमिट खिंची रेखा है :

तभी से, रहस्यमय
ओझल झनकारों में झनक रहे किरण-तार
धूल को फटकते जब सन्ध्या के आँचल में—
गड़ कर रह जाते किसी चोट के निशान-सी
खींची पगडण्डी हूँ,
जन-वन के आर्द्र सन्नाटे में अनायास।

कभी यदि—
विशाल जन-समूह से इस वन में आना,
कभी यदि—
दिशा-भ्रान्त अपने एकान्त में

मुझे खोज पाना
तो पल भर विश्वास कर मुझ को अपनाना···

मैं तुम्हें बल दूँगा आशा से चलने का,
दूँगा संकेत तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचाने का,
खोंये की दुविधा से तुम को बचाऊँगा,
जीवन के राजमार्ग से तुम्हें मिलाऊँगा।
मैं अनींद पथ हूँ
एक जागते तपस्वी-सा।

भटके हुए चरणों की आहत प्रतीक्षा में।
किसी देन की उदार इच्छा से अर्थपूर्ण।

■■

विजयदेवनारायण साही

परिचय

●

[साही, विजयदेवनारायण : जन्म काशी में, ७ अक्टूबर १९२४; प्रारम्भिक शिक्षा काशी में और बाद में प्रयाग में। प्रयाग से सन् १९४८ में अँगरेज़ी में एम० ए०। उसके बाद तीन वर्ष काशी विद्यापीठ में अध्ययन, सन् १९५१ से प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापक। परिवार 'जन्म के समय निम्न मध्य वर्ग का था; तब से पाँच भाइयों के बीच संख्या और आर्थिक स्तर दोनों ही में असन्तुलित वृद्धि होती रही है', जिस के कारण परिवार में कटुता भी रही है। पारिवारिक परिस्थितियों को 'ठण्डे बौद्धिक स्तर पर सिद्धान्त, मूल्यों एवं प्रतिमानों का जामा पहनाने' की प्रवृत्ति से विचारों और अनुभूतियों को काफ़ी सामग्री मिलती रही।

आरम्भ से ही हिन्दी लिखने-पढ़ने की तीव्र रुचि रही। 'शायद इसीलिए विद्यार्थी जीवन का विषय हिन्दी कभी नहीं चुना; उर्दू, फ़ारसी, अँगरेज़ी पढ़ता रहा।' सन् १९४२ की लहर ने राजनीति का स्पर्श दिया : विद्यार्थी जीवन में ही कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल हो गये और तब से समाजवादी आन्दोलन में हैं। 'कॅम्युनिस्ट प्रगतिवाद ने साहित्य में किसान-मज़दूर का हल्ला मचाया। उस से प्रभावित हो कर मज़दूरों के बीच गया। तब से ट्रेड यूनियनों में काम करते दस वर्ष हो गये। पाया कि कॅम्युनिस्ट प्रगतिवाद ने केवल ऐसे लोग पैदा किये जो मज़दूर नेताओं में साहित्यकारों जैसी बातें करते हैं, साहित्यकारों में मज़दूर नेताओं जैसी; जहाँ दोनों न हों वहाँ दोनों जैसी और जहाँ दोनों हों वहाँ बग़लें झाँकते हैं। तब से ऐसे लोगों को मूर्ख और बेईमान समझने की आदत पड़ गयी है जो रह-रह कर व्यक्त होती रहती है।'

'कांग्रेस शासन में तीन बार जेल के दर्शन हुए। एक बार एक महीने मज़दूरों की हड़ताल के सम्बन्ध में, दूसरी बार तीन दिन गोलवलकर को काला झण्डा दिखाने के अपराध में, तीसरी बार तीन घण्टे जवाहरलाल नेहरू की मोटर के सामने किसानों का प्रदर्शन करने के दुस्साहस पर।

एक कविता-संग्रह **मछलीघर** छप चुका है। समीक्षात्मक लेखों का एक संग्रह प्रेस में है। सन् १९६६ के चुनाव में साही लोकसभा के लिए मिर्ज़ापुर से खड़े हुए थे।]

■

वक्तव्य

मेरी कविता का आधार आस्था है। इस आस्था के पच्चीस शील हैं, जो नीचे लिखे जाते हैं।

पहला शील : मैं बहुत अक़्लमन्द आदमी हूँ। मुझ-जैसे और भी हैं। बहुत-से ऐसे हैं जो न मुझ-जैसे हैं, न मुझ-जैसों जैसे हैं। इस को छिपाने से कोई लाभ नहीं है, न छिपाने से कोई हानि नहीं है; छिपाने से हानि है, न छिपाने से लाभ है।

दूसरा शील : मैं परम स्वतन्त्र हूँ। मेरे सिर पर कोई नहीं है। अर्थात् अपने किये के लिए मैं शत-प्रतिशत ज़िम्मेदार हूँ। अर्थात् मेरे लिए नैतिक होना सम्भव है।

तीसरा शील : मैं संसार का सब से महत्त्वपूर्ण प्राणी हूँ। यदि नहीं हूँ तो आत्म-हत्या के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है। यही दशा आप की भी है।

चौथा शील : नितान्त अव्यावहारिक होना नितान्त ईमानदारी और अक़्लमन्दी का लक्षण है। समाज में सब तो नहीं, पर काफ़ी लोग ऐसे होने चाहिए। जिस समाज में नितान्त अव्यावहारिक कोई नहीं रह जाता, वह समाज रसातल को चला जाता है।

पाँचवाँ शील : मैं अपने को बहुत नहीं सेटता, क्योंकि यह मेरा कर्त्तव्य नहीं है। लेकिन आप का कर्त्तव्य है कि मुझे सेटें। इस का प्रतिलोम भी सत्य है।

छठा शील : सर्वोत्तम समाज वह है जिस में व्यक्ति के केवल अधिकार ही अधिकार हों, कर्त्तव्य कोई नहीं। अर्थात् जो भी मैं चाहूँ वह मुझे मिल जाय, लेकिन जो मैं देना न चाहूँ वह मुझे देना न पड़े।

सातवाँ शील : कविता के क्षेत्र में केवल एक आर्य-सत्य है : दुःख है। शेष तीन राजनीति के भीतर आते हैं।

आठवाँ शील : कविता को राजनीति में नहीं घुसना चाहिए। क्योंकि इस से कविता का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, राजनीति के अनिष्ट की सम्भावना है।

नवाँ शील : शेली महान् क्रान्तिकारी कवि था, इस लिए उस को चाहता हूँ; लेकिन उस के नेतृत्व में क्रान्तिकारी होना नहीं चाहता। बाबा तुलसीदास महान् सन्त कवि थे, लेकिन वह संसद् के चुनाव में खड़े हों तो उन्हें वोट नहीं दूँगा। नीत्शे का 'ज़रदुस्त्र उवाच' सामाजिक यथार्थ की दृष्टिसे जला देने लायक़ है, पर कविता की दृष्टि से महान् कृतियों में से एक है। उस की एक प्रति पास रखता हूँ और आप से भी शिफ़ारिश करता हूँ।

दसवाँ शील : कवि अनिर्वाचित मन्त्रदाता हो सकता है। निर्वाचित मन्त्री हो जाने से कवि का हित और जनता का अहित होने को आशंका है। दोनों ही अवांछनीय सम्भावनाएँ हैं।

ग्यारहवाँ शील : कविता से समाज का उद्धार नहीं हो सकता। यदि सचमुच समाज का उद्धार करना चाहते हैं तो देश का प्रधान मन्त्री बनने या बनाने की चेष्टा कीजिए। बाक़ी सब लग़ो है।

बारहवाँ शील : इस से पहले कि आलोचक मुझ से पूछे कि समाज का नागरिक होने के नाते आप ऐसा क्यों लिखते हैं, वैसा क्यों नहीं लिखते, मैं आलोचक से पूछता हूँ कि पहले यह सिद्ध कीजिए कि समाज का नागरिक होने के नाते कविता लिखना भी मेरा कर्त्तव्य है।

तेरहवाँ शील : कवि अ-कवियों से अधिक संवेदनशील या अनुभूति-शील नहीं होता। जो कवि इस के विपरीत कहते हैं उन का विश्वास मत कीजिए; वे अ-कवियों पर रंग जमाने के लिए ऐसा कहते हैं। यह सम्भव है कि कवि की संवेदना का क्षेत्र अ-कवि से कम हो। प्रायः यही होता है।

चौदहवाँ शील : जो मैंने भोगा है वह सब मेरी कविता का विषय नहीं है। कविता का विषय वह होता है जो अब तक की भोगने की प्रणाली में नहीं बैठ पाता। हर कलाकृति ठोस, विशिष्ट अनुभूति से उपजती है और उस का उद्देश्य अनुभूति की सामान्य कोटियों को नये सिरे से परिभाषित करना होता है। परिभाषा विशिष्ट और सामान्य में सामंजस्य का नाम है। बिना सामंजस्य के भोगने में समर्थ होना असम्भव है

पन्द्रहवाँ शील : अ-कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति और अब तक उप-लब्ध सामान्य परिभाषा में असामंजस्य नहीं देखता। कभी दीख भी जाता है तो थोड़ी-सी बेचैनी के बाद वह अनुभूति को ज़बरदस्ती बदल कर परि-

भाषा में बैठा लेता है। यह अ-कवि का सौभाग्य है।

सोलहवाँ शील : कवि अभागा है। वह विशिष्ट अनुभूति को बदल नहीं पाता। तब तक बेचैन रहता है जब तक परिभाषा को बदल नहीं लेता। असामंजस्य देखने का काम बुद्धि करती है। परिभाषा बदलने का काम कल्पना करती है। शब्दों में अभिव्यक्ति अभ्यास के द्वारा होती है। यह सब एक निमिष में हो सकता है, इस को एक युग भी लग सकता है; कवि-कवि पर निर्भर है।

सत्रहवाँ शील : कवि की अमरता ग़लतफ़हमी पर निर्भर करती है। जिस कवि में ग़लत समझे जाने का जितना अधिक सामर्थ्य होता है वह उतना ही दीर्घजीवी होता है।

अठारहवाँ शील : सार्थकता बराबर तप नहीं, शब्दाडम्बर बराबर पाप।

उन्नीसवाँ शील : वस्तु-स्थिति यह है कि मेरे बाबा ने जो कहा था वह न मेरे पिता कहते हैं और न मैं कहता हूँ। लेकिन जब मेरे पिता मुझ से कहते हैं कि मेरे बाबा ने क्या कहा था तो वह परम्परा है। जब मैं स्वयं कहता हूँ कि मेरे बाबा ने क्या कहा था तो यह प्रयोग है। यदि मैं कुछ नहीं कह पाता तो न परम्परा है न प्रयोग।

बीसवाँ शील : पश्चिम से छूटना असम्भव दीखता है। अध्यात्म के बिना निस्तार नहीं है, यह भी पश्चिम ने कहा है और यह बासी है। अध्यात्म और भौतिकवाद में समन्वय होना चाहिए यह भी पश्चिम ने कहा है और यह भी बासी है। केवल भौतिकवाद में निस्तार है यह भी पश्चिम ने कहा है लेकिन नया है।

इक्कीसवाँ शील : कविता राग है। राग माया है। माया और अध्यात्म में बैर है। अतः आध्यात्मिक कविता असम्भव है। जो इस में दुविधा करते हैं उन्हें न माया मिलती है न राम। जैसा हाल छायावादियों का हुआ। इस से शिक्षा लेनी चाहिए।

बाईसवाँ शील : मुझ से पहले की पीढ़ी में जो अक़्लमन्द थे, वे गूँगे थे। जो वाचाल थे वे अक़्लमन्द नहीं थे। अँगरेज़ी ने अक़्लमन्द बनाया लेकिन गूँगा कर के छोड़ा। गान्धीजी ने आवाज़ तो दी लेकिन अक़्ल बन्धक रखवा ली। बड़ा क्रोध आता है। यह मेरा दुर्भाग्य है।

तेईसवाँ शील : सोचने का काम क्यों सारे देश ने सिर्फ़ एक आदमी पर छोड़ दिया और स्वयं शरणागत हो कर 'मा शुचः' का पाठ करने

लगा ? उस आदमी ने भी शरणागतों को 'अटेंशन' और 'स्टैंड-एट-ईज़' के निर्देश तो दिये, पर यह नहीं बताया कि कब 'अटेंशन' कहना चाहिए और कब 'स्टैंड-एट-ईज़'। वह हमारी आकांक्षा को विराट् और विवेक को बौना छोड़ कर चला गया। जो बचे हैं वे अटकल से 'कॉशन' बोलते हैं जिस से परेड तो हो सकती है लेकिन लड़ाई नहीं जीती जा सकती।

चौबीसवाँ शील : पचास से ऊपर वय हो जाना अपने-आप में अक़्लमन्दी का प्रमाण नहीं है। प्रमाण-पत्र मैं दूँगा।

पचीसवाँ शील : अवज्ञा परमो धर्मः।

—विजयदेवनारायण साही

मानव-राग

मैं आज सरल धरती का अभिलाषी।

उठ रहा धुएँ-सा बल खाता शहरों का कोलाहल,
जिस की ऐंठन में डूब रहें मेरे सपने झलमल,
हर शाम यहाँ मानव-लहरों से भर जातीं सड़कें
हर बूंद अकेली किन्तु, अकेला सब का रंग-महल;

वैभव वाले ये राज-भवन, जगमग सुख के साधन,
ये इन्द्र-धनुष से रंग-भरे जग के अनमोल रतन,
पड़ कहीं न जाये धूल तृषित अरमानों की मेरे—
मेरे ही सपने आज बचाते हैं मुझ से दामन।

मैं मधुर मंज़िलों का शिल्पी
केवल पथ का वासी !

जो कभी न पाये फूट धरा की छाती के छाले—
इतिहास-भरे ये गाँव युगों की मौन जलन वाले,
इन बन्द खँडहरों में मेरी अभिलाषाएँ घुटतीं—
मैं ओढ़ समय की राख सुलगता मन्द अनल पाले;

ये हरे मटर के खेत, प्रवंचक जव की हरियाली,
यह भरी सुधा से ईख, झूमती सरसों मतवाली,
यह बहुत शक्तिमय, बहुत सुघर मेरे श्रम का सपना
पर रन पर मिथ्या अधिकारों की रेखाएँ काली

हैं मुक्ति माँगती शिथिल
भुजाएँ मेरी, अविनाशी।

हिल उठा कभी जो मस्त मलय भूली निश्वासों-सा,
झुक-झुक पड़ता मानव का मन सरपत की सासों-सा,

मैं कभी देखता किसी कुसुम को चूम रही तितली
रो-रो उठता सुनसान हृदय बिखरे मधुमासों-सा

है नीड़ खोजती, मुक्त कल्पना
मेरी आकाशी !

दर्द की देवापगा

अगर केवल प्यार ही होता
तो उसे कह डालता !

यह अपरिमित ज्वार
जो तन तोड़ता, खिंचता, उमड़ता,
विवश उठता और गिरता
मींजता है परिधि को
केवल सतह है यह
सतह है केवल !
इस के तले
अरे क्या डूबा हुआ है शान्त वह, असहाय,
जो इस महागति में
सिर्फ़ अपनी शान्ति से रह-रह करकता है ?
आह, जो रह-रह करकता है
क्या है ?

अगर केवल दर्द ही होता
तो उसे सह डालता !

यह अतल आघात से भी तीव्र,
यह अतीन्द्रिय आँधियों से भी अधिक उद्दाम
प्राणदायिनि ज्वाल !
स्वर्ग से जो उतर आयी आज मेरे भाल—

तिरोहाकुल, दुर्नियन्त्रित, लक्ष्यहत, अविराम,
जिस को हर किनारा, अग्निगर्भ
हर कगारा अतल है :

और कब तक धमनियों के अन्ध में धारे रहूँ
यह दर्द की देवापगा ?
और कब तक मुक्ति-प्यासी अस्थियों की चीख़
भी सुनता रहूँ ?
खोल दो, मेरी शिराएँ खोल दो;
तोड़ दो, मेरी परिधियाँ तोड़ दो;
वहो, बहो,
फूट कर के बहो
मेरे दर्द की देवापगा !

नये शिखरों से

ओ महाप्रलय के बाद नये उगते शिखरो,
है तुम्हें क़सम इन ध्वस्त विन्ध्यमालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना !
आसूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे
आशीष-वचन कहने वाले :
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़,
ये गुरुवर वापस नहीं लौट कर आयेंगे !

हिमालय के आँसू

हाँ देख रहा हूँ मैं तब से
जब से इस सूने कमरे में
ढँक ठण्डे हाथों से कुम्हलायी आँखों को
रो रहे विकल तुम फूट-फूट !

ओ दुखी-हृदय,
है सत्य, हिमालय-सा तुमने दिल पाया था,
है सत्य कि तुम को भाल मिला था सूरज-सा,
है सत्य कि छाती थी पठार-सी अन्तहीन,
औ' आज सिर्फ़ भग्नावशेष—
बेस्वाद सान्त्वना, धीरज, ढाढ़स, सब्र, भाग्य,
उजियाले की जड़ हँसी
अँधेरे के आँसू !

मत डरो—
मैं नहीं तुम्हें समझाऊँगा क़िस्से कह कर,
मैं नहीं तुम्हारे प्यारे आँसू पोछूँगा,
मैं नहीं घटाऊँगा इस संकट का महत्त्व—
मैं नहीं कहूँगा दर्द घूँट में पीने को ।

सच मानो प्रिय,
इन आघातों से टूट-टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं,
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं,
मेज़ों से लग कर सो जाते कितने पठार—
कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिप कर,
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता !

मैं केवल इतना कहता हूँ
इस सूने कमरे की सिसकन से क्या होगा ?

बाहर आओ,
सब साथ-साथ मिल कर रोओ,
आँसू टकरा कर अंगारे बन जाते हैं
फट पड़ते हैं युग-युग के ज्वालामुखी सुप्त,
शायद धरती पर पड़ीं दरारें मुँद जायें !

सँग-सँग के गान

तुमने चूमे मेरे नयनों के स्वप्न कभी
अब तक इन बेबस आँखों में अरमान भरे।

लो चाँद खिला फैला जादू का जाल सरल
छन रहा धरा की थाली में पारद झलमल,
धुँधली-धुँधली, उजली-उजली, कोमल-कोमल,
राका में डूब गया भू का विस्तार महल।

हँस दिया कभी तुमने चाँदी का नभ लख कर
अब तक रजनी में वे मादक आह्वान भरे।

यह रूप-सुधा ढल कर चन्दा की प्याली से,
बिखरी-सी उलझ गयी कुहरे की जाली से,
धुल गया रजत से दूर पहाड़ी का आँचल,
सिकता की चादर भीग गयी उजियाली से;

छू दिया प्रभा से कभी समय का तम तुमने
अब तक शशि में अभिसारों के वरदान भरे।

झीनी रजनी को सुधियों के सुख से भरता,
इस रजत शून्य में कोई स्वर कम्पन करता,
मैं मौन, शिथिल, अपने उर की धड़कन सुनता,
जा रहा चला खोया-खोया श्लथ पग धरता।

कब छूट गये पथ के साथी चलते-चलते
अब तक अम्बर में वे सँग-सँग के गान भरे।

माघ : १० बजे दिन

यह धूप बहकी-बहकी
कि शराब आसमानी;
ये हवाएँ सरसराती
कि आलस-भरी जवानी।

लो दस बजा सुबह का
झंकार एक आयी—
गति का विलास लहरा
फिर धूप मुसकरायी;
उस ज्योति के पटल पर
खुलते हुए कमल-सी
उठती हुई जवानी
बल खायी जगमगायी।

गुंजार घुँघुरुओं की —
आकाश भर रहा है!
यह लास ज्योतिवाही
यह नृत्य स्वप्नदानी।

मैं देखता धरा को
ले अधखुली निगाहें—
ये बस्तियाँ वसन्ती
रंगीन शाहराहें;
वह दूर खेतियों की
आँचल दुलारती-सी

इस रस-भरे नगर की
फैली जवान बाहें।

ये मद-भरे विहंगम,
गतिवान स्वप्न प्यारे,
मँडरा रहे गगन पर
पाँखें शिथिल पसारे,
आँखें अतल तुम्हारी
जिन में प्रभात तिरता—
हरिताभ घाटियों में
उड़ती हुई बहारें।

पहले-पहल उठीं जो
भू का विलास ले कर
वे बिजलियाँ पिघलतीं
अब भी प्रवाहमानी।

लहरा रहा है मुझ पर
किस ज़िन्दगी का आँचल;
जो उठ रहे दृगों में
छवि के हज़ार बादल;
कुछ इस तरह डुबा दो
कि न फिर मिटे खुमारी;
चलता चलूँ जहाँ तक
बजती रहे ये पायल।

हाँ मुसकराये जाओ
ओ धूप-सी कुमारी
यह आख़िरी सफ़र है
यह आख़िरी कहानी!

रात में गाँव

सो रहा है गाँव।
खेतियों की अनगिनत मेंड़ें
कि धरती के दुलारे वक्ष को
उँगलियों से पकड़
बच्चों की सलोनी नींद में सुकुमार
सो रहा है गाँव !

धूल का वह बुलबुला, जिस पर
अँधेरा बाज़ है डैने पसारे
से रहा नव प्रात;
तम से काँपता धुँधला कुहासा मौन—
चल रही है साँस !

जहाँ पेड़ों की तमिस्रा
काली हो गयी है,
निविड औ' निष्कम्प,
वहीं
स्थिर अवसाद की मज़बूत परतों बीच
जलते स्वप्न-सा
टिमटिमाता दीप !

यह नहीं है मौत,
केवल नींद है !

ख़ामोश धड़कनें

सोन-मछली-सा अँधेरी रात को पीता हुआ
जल रहा है किसी खँडहर के झरोखे पर चिराग़,
एक मद्धिम-सी उदासी, कुछ-न-होने-सी थकन
और दिल को पर्त में सहमा हुआ सुकुमार दाग़।

ज़िन्दगी कुछ इस तरह ख़ामोशियों से भर गयी
खोजता फिरता हूँ दिल का दर्द पर पाता नहीं,
दर्द से जैसे झुकी जाती हैं पलकें बार-बार
और रोने में भी पहले-सा मज़ा आता नहीं।

दिन ढले देहात के बाज़ार से मेला उठा
घण्टियों का गीत वीराने में घुल कर खो गया;
कट गयो जैसे सज़ा एक बिन-किये अपराध की,
राख से उठता हुआ हलका धुँआ गुम हो गया।

एक पहेली-सी चमक कर खो गयी आकाश में
देखता हूँ मैं ठगा बेजान आँखें खोल कर;
टूट कर तारा गिरा अवसाद गाढ़ा हो गया
नींद में जैसे कोई चुप हो गया कुछ बोल कर।

भूल कर जैसे कि दो आँसू दृगों में आ गये
सहम कर सुनसान घर की सर्द पलकें झुक गयीं;
स्तब्ध सहसा हो गयीं रूहें अँधेरे वक्ष की
और दो किरनें मुँडेरी पर उतर कर रुक गयीं।

यह अजब ख़ामोश धड़कन है किसी आवाज़ की
शून्य में भी जो नयी आवाज़ रचती ही गयी;
जिस क़दर लिखता गया उठते गये अनगिन सवाल
लाख सुलझाता गया गुत्थी उलझती ही गयी !

विजयदेवनारायण साही

चाँद की चाह

सुनिए जनाब,
मेरी एक दिक़्क़त है,
एक मिनिट दीजिए
इतना कष्ट कीजिए—
मुश्किल में जान है—
आप भी इनसान हैं,
सुन तो लीजिए !

बात कुछ ख़ास नहीं
आज-कल
ख़ासी उजियारी चटकीली
रात होती है,
गर्मी के दिन हैं, आँगन में सोता हूँ ।

इधर तीन दिनों से
लेटते ही खाट पर
तीव्र इच्छा होती है—
शून्य को पकड़ कर
मुट्ठियों में भींच लूँ ।
नारंगी से चाँद को,
रसभरी से तारों को,
केवड़े में बसी हुई किरनों को
पंजों में पकड़ कर
कस कर निचोड़ूँ
सारा रस खींच लूँ ।

भरसक उभार कर,
अपनी उँगलियों में ताक़त उतार कर
खोलता हूँ ललक कर,
करता हूँ बन्द, फिर—
क्या कहूँ आप से—
अपने ख़याल से
काफ़ी बढ़ाता हूँ दूर तक हाथों को,
दाँतों पर दाँत दबा
पूरी झल्लाहट से,
पूरे उन्माद से
बन्द करता हूँ;
किन्तु
फिसल जाता शून्य।

गड़ता हथेली में जो
नहीं कुछ बाहरी
केवल मेरी ही उँगलियों का नाख़ून है।
क्या करूँ?
फैले आसमान पर
आँखें ही मीच लूँ?
जी तो करता है मुट्ठियों में भींच लूँ,
सारा रस खींच लूँ!

ख़ुदा के वास्ते
मुँह न बनाइये—
कोई रास्ता बताइये!

बड़ा मुँह छोटी बात

फिर गया था सिर उमर ख़ैयाम का, जिस ने कहा,
आज आओ मौज कर लें, कल तो मरना है हमें;
साथियो, इतिहास का सन्देश है बहुजनहिताय :
आज मर लें, मार लें, कल मौज करना है हमें !

रात-भर का सफ़र

रात-भर का सफ़र, तारों से विजय की होड़,
गर्व का सम्बल, डगर के कोटिशः आयाम,
तभी मंज़िल-सा क्षितिज को बेध देता भोर
और केवल शेष रह जाता तुम्हारा नाम।

ज्वर की गाँठ

ज्वर की गाँठ
मत तोड़ो।
अपनी तपन
तिल-तिल जान कर
सन्तोष होता है।

एक भ्रम है यही
जो
इस व्यर्थ जीने को
बड़ा-सा अर्थ देता है;
जीने के लिए
सामर्थ्य देता है ।

आज मैं ने फिर

यह निरर्थक शून्य, झूठा दर्द, हलकी प्यास
टूटते, तीखे नशे-सी याद !
आँगन में खड़ी चुपचाप
ताकती अपलक, करुण, असहाय,
किसी लम्बी कथा के आभास-सी यह रात ।

आज मैं ने फिर तुम्हारा नाम लिख कर
ख़त्म कर दी बात ।

हम सभी बेच कर आये हैं अपने सपने

आओ साथी,
हम सभी बेच कर आये हैं अपने सपने
उस चोटी पर
कल रात जहाँ पर बनजारों का लश्कर था ।

कुहराम, शोर, बोलियाँ, दाँव, बेचैन गीत,
वह बड़ी-बड़ी नशीली रात सभी ने देखी है;
हर ख़ेमे में रिन्दों की पागल आवाज़ें,
हर ओर चमकते जादू-सी बेसुध आँखें,
हर तरफ़ नाचती ज्वालाएँ तलवारों-सी,
आतिशबाज़ी की तरह हँसी के फ़व्वारे,
टूटते हुए प्यालों की घायल झनकारें,
हर नये मुसाफ़िर के कन्धे पर गर्म हाथ,
हर नये अछूते सपने के लिए मान,
सब यों ही था।

लगता था जैसे जीवन का आख़िरी सत्य
जिस को हम ने, केवल हम ने ही देखा है
जादू बन कर मुट्ठी में आने वाला है :
मन में बिल्कुल ऐसा ही पावन साहस था
पैरों में बिल्कुल यह अनोखी निष्ठा थी
आँखों में कच्चे, निष्कलंक व्याकुल सपने !

जलते माथे पर सूने कुहरे की छाया,
टूटती पसलियों में रीता, गूँजता दर्द,
ख़ाली जेबों में हाथ दिये, सामर्थ्यहीन,
बिल्कुल यों ही,
सब कुछ खो कर
हम सभी उतर कर आये हैं इस घाटी में।

विश्वास करो,
यह सिर्फ़ तुम्हारा दोष नहीं,
यह नहीं कि सिर्फ़ तुम्हारी क़िस्मत झूठी थी
यह नहीं कि केवल तुम से ही थी चूक हुई;
उस पर्वत का जादू ही ऐसा होता है,
हम सब ने उस मदहोशी में—
नक़ली सच्चाई के बदले अनमोल सितारे बेच दिये।

जब हम अपना सब कुछ खो कर
रोते-रोते-से बाहर आ कर खड़े हुए,
बन्दिनी बहन की तरह, सिर्फ़
अपनी हारी आस्थाओं की
रोशनी हमें पहुँचाने बाहर तक आयी,
फिर दरवाज़े हो गये बन्द;
इस के आगे क्या हुआ हमें भी याद नहीं।

बस इसी तरह,
जब आँख खुली
इस घाटी के पीछे से था सूरज निकला।
तिरछी-तिरछी किरनें फूटीं,
नन्हीं दूबों की पत्ती पर
बेदाग़ ओस की चटकीली
बूँदों ने, भोले बच्चों-सा
था प्रश्न किया :
'क्या हुआ तुम्हें ?'

निःश्वास छोड़
हम सभी रहे थे खड़े कुतरते होठों को।
सचमुच जो कुछ भी हुआ बहुत अनहोना था,
लगता है कुछ जैसे काँटा-सा निकल गया,
बस भरे गले में एक प्रश्न
रह-रह उतराया आता है—
'अब क्या होगा ?'

साथी अब सम्भव नहीं पार वापस जाना,
तुम भी इस घाटी में बस कर
नन्हें, फूलों-से सपनों की
छोटी-सी फ़सल उगा लेना।
बेशक, इन में तूफ़ानों को
मधु-सिंचित करने वाली गन्ध नहीं होगी;

ये सरल स्वप्न
यदि बहुत हुआ
तो सूरज उगने पर अपनी बाँसुरी खोल कर हँस देंगे,
लेकिन इन का सौदा करने
अब कभी न बनजारों का लश्कर आयेगा।

इस घर का यह सूना आँगन

सच बतलाना,
तुम ने इस घर का कोना-कोना देख लिया
कुछ नहीं मिला !

सूना, आँगन, ख़ाली कमरे
यह बेगानी-सी छत, पसीजती दीवारें
यह धूल उड़ाती हुई चैत की गरम हवा,
सब अजब-अजब लगता होगा !

टूटे चौरे पर तुलसी के सूखे काँटे
बेला की मटमैली डालें,
उस कोने में
अधगिरे घरौंदे पर गेरू से बनें हुए
सहमी, शरारती, आँखों से वे गोल-गोल सूरज-चन्दा !
सूखी अशोक की तीन पत्तियाँ ओरी पर
शायद इस घर में कभी किसी ने बन्दनवार लगायी थी—

यह सब का सब
बेहद नीरस, बेहद उदास !
तुम सोच रही होगी, आख़िर
इस घर में क्या है जिस को कोई प्यार करे ?

शायद तुम ने जो पाया उतना ही सच है।
पर अक्सर काफ़ी रात गये
इस घर का यह सूना आँगन
जाने कैसे स्पन्दन से भर-भर आता है
बेबस आँखों से देखा करता है मुझ को,
जैसे कोई ख़ामोश दोस्त,
मजबूर, किन्तु हर दर्द समझने वाला हो !
सच, अक्सर काफ़ी रात गये।

हवा चली

गये रात
अकस्मात्, हल्की-सी, बैरिन हवा चली
सेमल की रूई-सी मृदुस्पर्शी सुधि-नागिन
उठी और प्राणों की कोई अनजानी नस उतर गयी;
बरसों से आँगन में दबी किलकारी के
ऊपर से मिट्टी की एक पर्त उतर गयी।

पिंजरे से छूटी हुई लक्ष्यहीन चिड़िया-सी
डरी-डरी, पगलायी, पुलकायित
कमरों में, छतों पर, झुकी खपरैलों पर
उड़ती फिरी।

मेरी कुर्सी के पीछे आ कर खड़ी हुई
लपटों-सा आलोकित हाथ बढ़ा
चलती मेरी क़लम को रोक गयी;
हँस कर बोली :
'लिखने न दूँगी तुम्हें

मेरी ओर देखो—
क्या मुझ से मनोरम हैं ये झूठी कविताएँ ?'

तुम ने क्यों दफ़न की
यह ज़िद्दी किलकारी
छिछली मिट्टी के तले ?
हल्की-सी हवा चली
एक पर्त उतर गयी
उड़ गयी किलकारी !

ओ रे पन्थ-बाँकुरे

ओ रे गरवीले,
तू ने आहत अभिमान-पूर्ण
चरणों से झेल लिया पन्थ की पिपासा को।

जब-जब बवण्डरों से
उड़ने को पृथिवी हुई
तू ने हठी साहस से रोप दिये पाँव;
बाँधी वज्र मुट्ठियों में छूटती तृषा की रास
रोक दीं पछाड़ें बन्द होठों के कगारों से;
रुका नहीं,
विक्षत सामर्थ्य की पुकारों पर झुका नहीं
और इस आख़िरी पड़ाव तक
तू ने क्षत चरणों से
आँक दी स्पृहा की रेख कोरी मरुभूमि पर।

ओ रे पन्थ-बाँकुरे,
टूट जाता तू जो इन वैरी अवरोधों से

तो भी मैं दुलारता;
किन्तु इस सीमा पर
तूने शीश वृक्ष के कबन्ध से टिका लिया
दाग़ दिये आँसुओं से सूर्य-प्रतिस्पर्धी नैन
केवल इस दर्द से, कि
चूम गयी साधना को एक ज़हरीली साँस
एक शीत स्पर्श तुझे बींध कर चला गया !

वीर, तेरा यन्त्र तो बना था लौह तन्तुओं से,
कौन-सी थी डोर भाग्य ध्रुव की जो टूट गयी ?
तेरे शुभ्र भाल पर
कौन-सी थी रेख जो विधाता से छूट गयी ?

खोल दिया पिंजरा ?

तुम ने क्या सोच कर
खोल दिया पिंजरा
और मुझे नीले आकाश में उड़ा दिया ?

सत्य है कि तुम ने इस बार नहीं
काटे मेरे उगे पंख,
कुछ नहीं छोड़ा :
मेरा सब मुझ को लौटा दिया,
मन की निर्बन्ध प्यास, ऋद्धियाँ भुजाओं की
पैरों की अथक जलन, वक्ष की उदात्तता,
जो कुछ था मुझ में
सब पहले-सा जोड़ दिया,
और एक आख़िरी उसाँस ले,
तुमने बन्द द्वार की सलाख़ों को तोड़ दिया ।

उड़ूँगा मैं ;
निर्मम तुम्हारे इस तीखे प्रक्षेप से
शायद इस शीतल अनन्तता में बिंधा हुआ
ऊर्ध्वगति उल्का-सा
व्योम के असीम शिखरों तक दौड़ जाऊँगा,
नाप लूँगा शायद अछूते नक्षत्रों को।

किन्तु ओ अभिमानी,
आ कर गिरूँगा मैं
फिर उसी अंजलि पर,
केवल यह पूछने—
तुम ने लौटाये नहीं मेरे वे शब्द
जो तुम्हीं ने सिखाये थे;
क्या किया उन का ?
अभिमानी, मेरे उन शब्दों का क्या किया ?

दोपहर : नदी-स्नान

यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार
छिछली नदी-सा :
और मेरा डूब जाने का विफल आवेग,
मन में कसमसाता ज्वार !

दीखता है तल,
परिष्कृत बालुका के स्वच्छ भीगे कण
सरकते
तृप्त पैरों तले।

गुनगुना आलोक मेरे खुले रन्ध्रों से निकल कर दौड़ता है,
और मैं थिर हूँ।

जल-विहग-सी हवा मेरा शीश छू कर भागती है,
और मैं थिर हूँ।
उफनता जल मींजता है आह! मेरा अधखुला अस्तित्व,
और मैं थिर हूँ।

शरद निर्मल धूप, निर्मल हवा, निर्मल दो किनारे
चमकती, स्नेहार्द्र बाहों-से।
आह! जो कुछ मुझे घेरे है
सतत आवर्तनों के बीच,
कटि को नीर,
छाती को गगन,
वैजयन्ती से फरकते केश को वातास,
निर्मल है।
स्फटिक है, अमिताभ है, ऋजु है।

किन्तु ओ ममतालु,
दौड़ आया हूँ यहाँ तक
आत्म-विस्मृत, तपःपूत, विभोर,
अपने खुलेपन से ही प्रताड़ित; विद्ध,
चारों ओर उच्छल नीलिमा से घिरी
मेरी डूब जाने की अलौकिक प्यास,
मुख से विकल
स्वर्गिक, मुग्ध औ' असमर्थ बाहों की विरलता बीच
बिछती जा रही है।
सुनो,
ओ सलिला,
तुम्हारे हृदय की तल-वासिनी यह रेत
मुट्ठी में उठा
तप्त मस्तक से लगा कर
माँगता हूँ।

ओ सहेली,
यह तुम्हारी त्वचा पर
किलकारती, मोहित भँवरियाँ

स्थिर हथेली में उठा
रक्ताभ नयनों से लगा कर
माँगता हूँ।

ओ अनावृत सर्पिणी,
यह तुम्हारे खिलखिलाते बुद्बुदों में
क्षार-शोधक अम्ल-सी अवदात विष की बूँद
अपनी शुभ्र अंजलि में उठा
अभिजात अधरों से लगा कर
माँगता हूँ।

दो मुझे,
वह वेग
जिस से थाह की यह सालती अनिवार्यता मिट जाय;
वह रोध
जिस से यह उछलता भँवर ठहरे, ठहर कर फट जाय;
दो मुझे
वह मन्त्र
जिससे यह तुम्हारा सरल, पहला ज़हर
तल को काट दे,
गहरा बना दे,
और मुझ को सोख ले।

यह तुम्हारा छलछलाता, प्रखर, निर्मल प्यार,
और मेरा डूब जाने को उमँगता ज्वार!

विष-कन्या के नाम

घिरा चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर
सुख का झिलमिलाता जाल······

साथ हैं लाखों-करोड़ों चाँद-तारे दीप्त, वैभववान,
शायद व्योम है यह :
मैं खड़ा हूँ व्योम-गंगा की अलक्षित वीचियों में।
बहुत हल्का,
रिक्त है तन,
स्पर्श-सुख से झनझनाती है त्वचा,

दोनों भुजाएँ विवश, सीमाहीन नभ को भेंट लेने को उठाये।

बहुत नीचे
किसी ओझल अतल घाटी से उमड़ता,
मृदुल संख्यातीत लच्छों-भरा बादल
मुग्ध पैरों से लिपटता हुआ उठता आ रहा है,
और ऊपर कहीं से
उत्फुल्ल रोमों पर बरसती
पिसे तारों की अतीन्द्रिय जगमगाती धूल।
आह ! मैं हूँ झँझरियों से भरा ढाँचा मात्र
और यह अनुरक्त बादल,
झनझनाती हुई आदिम धूल,
मेरे तन्तुओं के बीच से हो कर गुज़रती जा रही है।

कहाँ हूँ मैं, आह !
कौन-सा है यह तरंगित विपुल मायालोक
चारों ओर मेरे, घिरा चारों ओर, चारों ओर··?

२

यह अलौकिक दंश,
यह सिमटती चेतना में भिन रहा तेज़ाब-सा उन्माद,

यह करोड़ों वायवी अनुभूतियों का निचुड़ता सागर,
प्रहर्षित, तिलमिलाते, तने प्राणों की
अनुक्रम क्षरित होती तृप्तियों का ज्वार !

३

ओ हुताशन, लो—
संचित, दहकते व्यक्तित्व के
इन चरम जीवित क्षणों का व्याकुल अपव्यय, लो—

क्योंकि जीवन नहीं कुछ भी और !

अस्थियों को फोड़ आती लहर आहुति
भर रही जो चेतना के, सिद्धि के अभिव्यक्ति के हर रन्ध्र
उस प्रतिपल समाहित पूर्णता के परे
जीवन नहीं कुछ भी, ओ हुताशन, और !

इधर आओ,
मैं तुम्हारी पुतलियों को देर तक देखूँ :
यही है वह चिर-पराया व्योम ! जिस में खिंचा
छूटे बान-सा हर दर्द उड़ता जा रहा है
प्रज्वलित, अभिव्यक्त, मरणासन्न !
यही है इस शृंखलित विस्फोट का गन्तव्य
जो निर्जीव, पपड़ी-पड़े पोरों को जिलाता
दे रहा है प्रथम अन्तिम दीप्ति;
इन दारुण, सघन अनुभूतियों के परे
जीवन नहीं कुछ भी, ओ हुताशन, और !

कल्प-तरु है, प्यार : बरसों की भिगोयी
दबी करुणा से भरा, गुनता स्वयं को ।
तभी सब-कुछ माँगता-सा
एक जीवित स्पर्श छू देता कहीं बेदर्द,
दूर कच्ची जड़ों के सुकुमार टोकों तक
अहेरी दौड़ जाती एक सिहरन सर्द ।

तिलमिला उठता वियोगी
नसों में खोया हुआ बेताब सागर उमड़ आता,
भँवर खाता, चीरता हर गाँठ।
खुल कर तैर जाते अवयवों के पाश,
डालें काँपती बेहोश,
हर पत्ती तड़पती··
और फिर वह बँधा वैभव
किसी बेपरवाह मेले में प्रदर्शित फुलझड़ी-सा
फूल आता, रीझता, पुरता, बिखर जाता—
हज़ारों बार।
कल्पतरु है प्यार।

मुझे देखो :
यह कि पुंजीभूत मैं अब भी बचा हूँ आज।
मुझे देखो :
यह कि इस दिशिहीनता को भेंटता-सा
जगमगाता हुआ मैं अस्तित्व हूँ निर्व्याज।
सिन्धु से आहूत मैंने दिया पूरा सिन्धु,
अग्नि से अभिभूत मैंने दी बराबर अग्नि,
शक्ति से आविष्ट मैंने दी अनवरत शक्ति,
किन्तु फिर भी थकन पर
और भी वत्सल स्वरों में
क्या नहीं मैं याचता ही रहा हूँ अनिमेष :
और कितनी प्यास, कितनी प्यास है, प्यासे हुताशन शेष ?
जगमगाता हुआ फिर भी बचूँगा मैं अस्ति का सिरमौर
क्योंकि तिल-तिल सौंपती सम्पन्नता के परे
जीवन नहीं कुछ भी, ओ हुताशन, और !

४

इस लिए घेरे रहो तुम, मुझे, ओ मायाविनी,
और कस लो गुंजलक में
और··

हाँ, कुछ और....
विवश झूमूँगा तुम्हारी लहर पर हतचेत
मेरे देव-पावन रक्त की हर बूँद
चाहे स्वप्न बन कर
फूटती चिनगारियों-सी व्योम में उड़ जाय;
मेरे दिव्य अधरों पर स्फुटित हैं जो अजनमे शब्द
चाहे चुम्बनों की तरह
गहरे, और गहरे, डूब कर घुल जायँ।

उमड़ता ही रहेगा उत्तप्त ताज़ा लहू
धरती से अजस्र, अशेष, आती ही रहेगी धार,
यातना के बीच मेरा गर्व देता है चुनौती—
कौन छीजेगा प्रथम :
रिसती समय की रेत, या अनुभूति का यह क्षुब्ध पारावार ?
इस लिए, ओ दंशिनी !
मैं नहीं हूँगा मौन या श्रीहीन;
लो, सिमटती चेतना में
हुलस आयी हैं वही पावन, समर्पित वह्नियाँ :
मन्द, भीगे स्वरों में
फिर ध्वनित है हर पोर :
घिरी चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर....

■ ■

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

परिचय

●

[सक्सेना, सर्वेश्वरदयाल : जन्म बस्ती ज़िला, उत्तरप्रदेश में सन् १९२७ में। कस्बेनुमा छोटे-से शहर के बाहर, चारों तरफ़ दूर-दूर तक फैले खेतों, तालों और छोटे-छोटे गाँवों के बीच बचपन बीता, जिस में "खेतों की मेड़ों, घर के पास अनाथाश्रम के बच्चों के अलावा आर्थिक संघर्ष से उत्पन्न पारिवारिक कलह भी बचपन के साथी रहे"। माता अस्वास्थ्य और अर्थसंकट से लड़ती हुई अन्त तक अध्यापन का कार्य करती रहीं। पिता भी अध्यापक रहे, सन् १९५७ में दिवंगत हुए।

शिक्षा बस्ती, बनारस और इलाहाबाद में पायी, इलाहाबाद से एम० ए० किया (१९४९)। कुछ समय स्कूलमास्टरी और पाँच वर्ष क्लर्की करने के बाद विरक्त हो कर इस्तीफ़ा दे दिया। कुछ वर्ष दिल्ली में आकाशवाणी के समाचार विभाग में बिताये; कुछ और आकाशवाणी के अन्य केन्द्रों में 'उत्पादन' में सहायक (एसिस्टेण्ट प्रोड्यूसर) रहते हुए। पिछले तीन वर्ष से **'दिनमान'** साप्ताहिक के सम्पादकीय विभाग में हैं।

साहित्य की ओर बचपन से झुकाव रहा—"शायद कुसंग के कारण अधिक"।

"स्वभाव न अच्छा न बुरा; बाहर से गम्भीर सौम्य पर भीतर वैसा नहीं; विपत्ति, संघर्ष, निराशाओं से घनिष्ठ परिचय के कारण ज़रूरत पड़ने पर खरी बात कहने में सब से आगे। अपनों के बीच बेगानों-सा रहने की और बेगानों को अपना समझने की मुख्य आदत। काहिली, सुस्ती, सोचना अधिक करना कम, अपनी लीक पर चलना और किसी की परवाह न करना; ये कुछ मुख्य दोष हैं—दूसरों की दृष्टि में।"

"आकांक्षा कुछ ऐसा करने की जिस से यह दुनिया बदल सके, पूँजी मन का असन्तोष और मित्रों का सहयोग।"

पत्र-पत्रिकाओं में बहुत कुछ लिखते रहे हैं। पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ कई तैयार हैं। अभी तक छप चुकी हैं **काठ की घण्टियाँ** (गद्य-पद्य-संकलन), **बाँस का पुल** और **एक सूनी नाव** (कविता-संग्रह) और एक लघु उपन्यास **सोया हुआ जल**। ■

वक्तव्य

'सभी अकथित सत्य विषैले हो जाते हैं।'

जब चारों ओर लोग इस बात पर कमर बाँधे हों कि वे आप की बात नहीं समझेंगे, तब आप के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं : या तो चुप रहें—अपनी बात न कहें, या फिर उसे इस ढंग से कहें कि सुनने वाले तिलमिला उठें, उन की कलई उतर जाय।

जिन्हें प्रयोगवादी या नया कवि कहा जाता है वे पहले रास्ते पर तो चले हैं, लेकिन दूसरे रास्ते पर उन्होंने क़दम नहीं रखा। पीड़ा पहुँचाने से आत्म-पीड़न को श्रेयस्कर मानने के परिणाम सामने हैं। जिन में रेंगने तक का सामर्थ्य नहीं है वे भी फ़ैशन समझ कर नयी कविता के ख़िलाफ़ फन उठाने लगे; नयी कविता पर आलोचना लिख कर आलोचना लिखने की मश्क की जाने लगी; साहित्यकार बनने और पुराने साहित्यकारों द्वारा मान्यता प्राप्त करने के लिए नयी कविता और नये कवियों को लम्बी गालियों द्वारा स्मरण किया जाने लगा।

अपनी कविता के विषय में कुछ लिखते समय यह स्थिति मेरे सामने है। वक्तव्य किस के लिए लिखूँ ?

जागरूक प्रबुद्ध पाठक के लिए ? किन्तु वह तो नयी कविता समझता है, उसे किसी वक्तव्य की आवश्यकता क्यों होने लगी ? संवेदनशील पाठक के लिए ? पर उस के लिए संवेदना ही यथेष्ट है, वकालत की उसे ज़रूरत नहीं।

तब क्या स्वयं परम्परानुगामी किन्तु उदारचेता वयोवृद्ध साहित्यकारों के लिए ? नहीं, वे अपना काम कर चुके हैं और मानते हैं कि नयी पीढ़ी जो उचित समझ रही है कर रही है। (यद्यपि ऐसे लोग हैं ही कितने !)

तो क्या फिर वक्तव्य ऐसे रूढ़िग्रस्त अवसरवादी मठाधीशों के लिए लिखा जायगा जो ज़मीन पैरों के तले से खिसकती जान कर जैसे भी हो गद्दी बनाये रखने के लिए मोर्चा बाँधने में लगे हैं ? किन्तु उन्हें अपने वक्तव्य के अतिरिक्त और किसी से क्या प्रयोजन ! उन के लिए सब साधन बाईस पसेरी है : अहंवादी, कुण्ठावादी, सेक्सवादी, फ़ायडवादी,

प्रयोगवादी, सार्त्रवादी—इन के निकट सब का एक ही अर्थ है; कोई भी नारा वह लगा सकते हैं जो आप के ख़िलाफ़ काम दे जाय !

ऐसी स्थिति में मेरे लिए भी चुप रहने का पहला रास्ता पसन्द करना ही स्वाभाविक होता। पर समय की माँग दूसरे रास्ते की है। जो सत्य है उसे चुपचाप अपनाये रहने-भर से काम नहीं चलेगा। बल्कि जो असत्य है उस का विरोध करना पड़ेगा और मुँह खोल कर कहना पड़ेगा कि वह ग़लत है।

मैं कविता क्यों लिखता हूँ—मैं ने कविता क्यों लिखी ? कहूँ कि किसी लाचारी से ही लिखी। आज की परिस्थिति में कविता लिखने से अधिक सुखकर और प्रीतिकर कई काम हो सकते; और मैं कविता न लिखता यदि :

हिन्दी के आज के प्रतिष्ठित कवियों में एक भी ऐसा होता जिस की कविताओं में कवि का एक व्यापक जीवन-दर्शन मिलता,

हिन्दी के गण्य-मान्य आलोचकों में एक भी आलोचक ऐसा होता जिस ने प्रयोगवादी या नयी कविता के बारे में एक भी समझदारी की बात कही होती,

हिन्दी का एक भी जागरूक पाठक ऐसा होता जिस ने हिन्दी की वर्त्तमान विभूतियों की नयी लिखी जानेवाली रचनाओं पर घोर असन्तोष न प्रकट किया होता।

केवल इतना ही नहीं, मैं ने स्वयं कविता लिखने की लाचारी न महसूस की होती यदि :

अधिकांश पुराने कवि छन्द और तुक की बाजीगरी के नशे में काव्य-विषय की एक संकीर्ण परिधि में घिर कर व्यापक जीवन के संघर्षों को भूल न गये होते और उन्हें कविता के विषयों में से निकाल न देते;

यह माना गया होता कि संसार का कोई भी विषय कविता का विषय है और कवि की दृष्टि इतनी व्यापक होनी चाहिए कि वह उसे उस कोण से भी देख सके जहाँ से वह संवेदना को छूता हो; यह सत्य स्वीकार कर लिया जाता कि भावनाओं की नयी परतें खोलने के और संवेदना के गहनतम स्तरों को छूने के लिए कविता ने सदैव नये रूपविधान धारण किये हैं।

परिस्थिति में केवल इतनी ही बातें मुझ पर बोझ डालती रही हों,

ऐसा नहीं है। मुझे कविता लिखने की इतनी उत्तेजना न मिली होती यदि :

वर्तमान मठाधीश कवि अपनी औक़ात घटने के डर से नये प्रयोगों के ख़िलाफ़ उछल-उछल कर चिल्लाते नहीं, उन्हें ग़लत कहने के लिए दलवन्दी न करते, रिश्वतें न देते, बल्कि सद्‌भाव से उन्हें अपनाते, अपनी प्रतिभा का (यदि वह है तो) उपयोग रचनात्मक कार्य के लिए करते, बदलते हुए युग और मूल्यों को अपनाने के लिए अपने सीने चौड़े करते और अपनी दृष्टि प्रखर करते;

यदि सरकारी पत्रों और प्रसारण-संस्थाओं या मंचों पर से नयी रचनाओं का बहिष्कार करने की तानाशाही न बरती जाती;

यदि साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक क़तारबन्दी न की गयी होती, पद-प्रतिष्ठा के लालच में सत्य पर परदा न डाला गया होता, अध्ययन और लगन से शास्त्रीय स्तर पर उठ कर नये साहित्य की परख ईमानदारी से करने की कोशिश की गयी होती;

यदि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हमारे अधिकतर साहित्यकारों ने वज़ीफ़े खाने, कुरसियों के लिए गोटें बैठाने और पदों के लिए साहित्यकार का सम्मान बेचने का धन्धा न अपनाया होता;

यदि अधिकतर प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने नक़ली जीवन छोड़ कर साहित्यकार का अनुभवप्रवण, लोकजनीन वास्तव जीवन अपनाया होता, अपनी शक्ति ऐसा विराट् साहित्य लिखने में लगायी होती जिसे हम गौरवपूर्वक विश्व के सम्मुख रख सकें।

यह सब हुआ होता, तो मेरे लिए कविता लिखने की कोई लाचारी न रही होती बल्कि, जैसा कि मैंने कहा, मेरे सम्मुख कई दूसरे सुखकर और प्रीतिकर काम होते। तब मैंने शायद कविता न लिख कर प्रशस्ति लिखी होती उन सभी साहित्यकारों की जिन्होंने अपने साहित्य को गौरव प्रदान करने और उसे विराट् व्यापक रूप देने के लिए सच्चे ईमानदार साहित्यिक के रूप में जीवन के संघर्षों के आगे सीना ताना होता, जिन्होंने वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रोंमें जर्जर परम्पराओं, रूढ़ियों और विघटित मूल्यों से लोहा लिया होता। आप सच मानिए, वह काम मेरे लिए आज इस वातावरण में कविता लिखने से कहीं अधिक सुखकर होता।

आप ऐसा सोच सकते हैं कि यह सब मेरी कविता के बारे में नहीं

है, अप्रासंगिक है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब है उस विचार-मन्थन का, जो इन कविताओं के रचना-काल में मेरे साथ रहा है और जो आज भी है। मैं अपनी कविताओं के साथ अपने इन विचारों को भी उन आचार्यों के सम्मुख रखता हूँ जो किसी भी कृति की पूर्वग्रहमुक्त स्वतन्त्र मन और बुद्धि से आलोचना करने में असमर्थ हैं और रचना के मूल्यांकन के लिए रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन और विचारों की व्यापक जानकारी आवश्यक मानते हैं।

अगर आपने इतना पढ़ कर यह धारणा बना ली है कि मैं ने अपनी कविता के सम्बन्ध में बड़े-बड़े दावे किये हैं, तो आप ने भूल की है। उस दशा में मैं अनुरोध करूँगा कि आप मेरी बात फिर पढ़िए और अधिक ध्यान से पढ़िए। अपनी कविता की कमियों से मैं अवगत हूँ।

तन्त्र-कौशल की कमी—अनुशासित अभिव्यक्ति के अभाव के कारण; गद्य की लय; साधारण बोल-चाल की भाषा का व्यवहार—साधारणतया मेरी कविता पर ये तीन आरोप हैं। आंशिक रूप से मैं तीनों की सत्यता स्वीकार करता हूँ। पूरी तौर से इस लिए नहीं मान पाता कि :

१. मैं विषय-वस्तु को रूप-विधान से अधिक महत्त्व देता हूँ और मानता हूँ कि सम्पूर्ण नयी कविता ने रूप-विधान से अधिक विषय-वस्तु पर ज़ोर दिया है, चाहे उस के कवियों ने अपने वक्तव्यों में जो भी कहा हो! रूप-विधान का पूर्ण अनुशासन मानने पर यदि विषय की तीव्रता दबती है और उस का प्रभाव कम होता है तो मैं अनुशासन भंग करने को तैयार हूँ क्योंकि मेरे निकट विषय की तीव्रता और पूर्ण प्रभाव रूप-विधान से अधिक महत्त्वपूर्ण है। विषय-वस्तु और रूप-विधान दोनों के आश्चर्यजनक सन्तुलन के लिए जिस निपुणता की आवश्यकता है वह अभी मुझ में नहीं है।

२. गद्य की लय मेरे अपने पढ़ने की लय से अनुशासित है, छन्द की लय से नहीं। विषय के अनुरूप ही इस लय का प्रयोग होता है—यों कहिए कि प्रयोग की विवशता होती है। यदि विषय की प्रभावोत्पादकता इस से बढ़ती है तो मैं इस का प्रयोग करता हूँ और यह आग्रह नहीं करता कि उसे कविता माना ही जाय।

३. साधारण बोल-चाल की भाषा में जो कविताएँ नहीं लिखी जा सकतीं उन्हें मैं अभी नहीं लिख रहा हूँ। काव्य की भाषा जिस गहनतम अनुभूति की अभिव्यक्ति में साधारण बोल-चाल की भाषा से अलग चली

जाती है या जाने के लिए विवश है उस का सामना अभी मुझे नहीं करना पड़ा है। अभी तो मेरी पूँजी एक व्यापक संवेदना और ऊपरी आक्रोश है जो मेरे अन्तर की सतह को छील जाता है, और इस की अभिव्यक्ति साधारण बोल-चाल की भाषा से हो जाती है। जिस दिन इस दर्द को किन्हीं अज्ञात गहनतम अनुभूतियों के सामने ज़बान खोलनी पड़ेगी उस दिन शायद इस की भाषा बदल जाय। तब मैं हिचकूँगा नहीं। वास्तविक कविता वह होगी या यह, इसे तौलने के लिए जो भाषा की तराजू उठायेंगे, वे तब वैसी ग़लती करेंगे जैसी कुछ लोग छायावादी भाषा लिख कर आज कर रहे हैं।

अन्त में इतना ही कहना है कि कवि के वक्तव्य और कविता के वक्तव्य में अन्तर होता है। कविता अपना वक्तव्य स्वयं देती है, कवि की वकालत उस के लिए ज़रूरी नहीं है क्योंकि आगे भी यदि उसे रहना है तो अपना वक्तव्य स्वयं देना होगा, कवि सदैव साथ नहीं रहेगा। ऐसी कविता जो रक्षणीय हो, उस का न रहना ही अच्छा है। मुझे कवि बनने का शौक़ नहीं है।

मेरा वक्तव्य आप मुझ से सुन चुके हैं। अब मेरी कविता का वक्तव्य आप उस से सुनिए—थोड़ा मन बदल कर, कवि को हटा कर, हो सके तो संवेदना के साथ।

— सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

आज पहली बार

आज पहली बार—
थकी शीतल हवा ने
शीश मेरा उठा कर,
चुपचाप अपनी गोद में रक्खा,
और जलते हुए मस्तक पर
काँपता-सा हाथ रख कर कहा :
'सुनो, मैं भी पराजित हूँ,
सुनो, मैं भी बहुत भटकी हूँ,
सुनो, मेरा भी नहीं कोई,
सुनो, मैं भी कहीं अटकी हूँ;
पर न जाने क्यों—
पराजय ने मुझे शीतल किया,
और हर भटकाव ने गति दी,
नहीं कोई था
इसी से सब हो गये मेरे,
मैं स्वयं को बाँटती ही फिरी
किसी ने मुझ को नहीं यति दी।'
लगा मुझ को उठा कर कोई खड़ा कर गया
और मेरे दर्द को मुझ से बड़ा कर गया।
आज पहली बार।

नये साल पर

नये साल की शुभ कामनाएँ।

खेतों की मेड़ों पर धूल-भरे पाँव को,
कुहरे में लिपटे उस छोटे से गाँव को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।

जाँते के गीतों को, बैलों की चाल को,
करघे को, कोल्हू को, मछुओं के जाल को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।

इस पकती रोटी को, बच्चों के शोर को,
चौके की गुनगुन को, चूल्हे की भोर को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।

वीराने जंगल को, तारों को, रात को,
ठंडी दो बन्दूक़ों में घर की बात को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।

इस चलती आँधी में हर बिखरे बाल को,
सिगरेट की लाशों पर फूलों से ख़्याल को,
नये साल की शुभ कामनाएँ!

कोट के गुलाब और जूड़े के फूल को,
हर नन्हीं याद को, हर छोटी भूल को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।

उन को जिनने चुन-चुन कर ग्रीटिंग कार्ड लिखे,
उन को जो अपने गमले में चुपचाप दिखे,
नये साल की शुभ कामनाएँ।

सुहागिन का गीत

यह डूबी-डूबी साँझ
उदासी का आलम,
मैं बहुत अनमनी
चले नहीं जाना बालम।
ड्योढ़ी पर पहले दीप जलाने दो मुझ को,
तुलसी जी की आरती सजाने दो मुझ को,
मन्दिर में घण्टे, शंख और घड़ियाल बजे,
पूजा की साँझ सँझौती गाने दो मुझ को,
उगने तो दो पहले उत्तर में ध्रुव-तारा
पथ के पीपल पर कर आने दो उजियारा,
पगडण्डी पर जल-फूल-दीप धर आने दो,
चरणामृत जा कर ठाकुर जी की लाने दो,
यह डूबी-डूबी साँझ उदासी का आलम,
मैं बहुत अनमनी चले नहीं जाना बालम।

यह काली-काली रात
बेबसो का आलम,
मैं डरी-डरी-सी
चले नहीं जाना बालम।
बेले की पहले ये कलियाँ खिल जाने दो,
कल का उत्तर पहले इन से मिल जाने दो,
तुम क्या जानो यह किन प्रश्नों की गाँठ पड़ी ?
रजनीगन्धा से ज्वार सुरभि की आने दो,
इस नीम ओट से ऊपर उठने दो चन्दा
घर के आँगन में तनिक रोशनी आने दो,

कर लेने दो तुम मुझ को बन्द कपाट ज़रा
कमरे के दीपक को पहले सो जाने दो,
यह काली-काली रात बेबसी का आलम,
मैं डरी-डरी-सी चले नहीं जाना बालम।

यह ठण्डी-ठण्डी रात
उनींदा-सा आलम,
मैं नींद भरी-सी
चले नहीं जाना बालम।
चुप रहो ज़रा सपना पूरा हो जाने दो,
घर की मैना को ज़रा प्रभाती गाने दो,
ख़ामोश धरा, आकाश दिशाएँ सोयी हैं,
तुम क्या जानो क्या सोच रात-भर रोयी हैं?
ये फूल सेज के चरणों पर धर देने दो,
मुझ को आँचल में हरसिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा,
पथ पर पूरा-पूरा प्रकाश हो लेने दो।
यह ठण्डी-ठण्डी रात उनींदा-सा आलम,
मैं नींद-भरी-सी चले नहीं जाना बालम।

विवशता

कितना चौड़ा पाट नदी का, कितनी भारी शाम,
कितने खोये-खोये-से हम कितना तट निष्काम,
कितनी बहकी-बहकी-सी दूरागत वंशी-टेर,
कितनी टूटी-टूटी-सी नभ पर विहगी की फेर,
कितनी सहमी-सहमी-सी क्षिति की सुरमई पिपासा,
कितनी सिमटी-सिमटी-सी जल पर तट-तरु अभिलाषा,

कितनी चुप-चुप गयी रोशनी छिप-छिप आयी रात,
कितनी सिहर-सिहर कर अधरों से फूटी दो बात,
चार नयन मुसकाये, खोये, भींगे, फिर पथराये
कितनी बड़ी विवशता जीवन की कितनी कह पाये !

भोर

सलमे-सितारों की कामवाली
नीली मख़मल का खोल चढ़ा
अम्बर का बड़ा सिंदौरा उलटा।
धरती पर,
नदियों के जल में,
गिरि-तरु के शिखरों से ढर-ढर कर
सब सेंदुर फैल गया।
प्रथम बार—
इस गँवार नार के सिंगार पर
कोटर-कोटर से छिप झाँकती
सखियाँ खिलखिला उठीं,
पीछे से आ पिय ने
चुपके से हाथ बढ़ा
माथे पर चाँदी की बिंदिया चिपका दी
लज्जा से लाल मुख
हथेलियों में छिपा
भोर झट भाग
ओट हो गयी,
माथे से छूट
गिरी बेंदी
बस पड़ी रही।

विगत प्यार

एक हल्का-सा मेघ
बरस कर निकल गया,
पेड़ों की पत्तियाँ धुल गयीं,
एक छोटी-सी चिड़िया
तेज़ी से झुरमुटों को चीरती चली गयी,
कुछ नयी कोंपलें टूट कर गिर गयीं,
क्या किसी ने यहाँ पहली बार किसी को देखा था ?

एक थका हुआ नम सुगन्धित झोंका
क्यारियों से हो कर चला गया,
एक टूटा हुआ नन्हा बेज़बान फूल
अनजानी धरती पर छूट गया,
क्या कोई यहाँ फिर आया था ?

इन झूलती लताओं की टहनियों को
देखो आपस में कोई उलझा गया है,
इन कँटीली जंगली झाड़ियों को कस कर
देखो बाड़े से कोई बाँध गया है,
क्या कोई यहाँ रहा था ?

साँझ क्यों आख़िरी दम तक यहाँ रहती है ?
सुबह क्यों सब से पहले यहाँ आती है ?
हरे काले रंग के कटोरे ले
झुकी हुई तन्मय बरसात
दीवारों पर किस के चित्र खींचती है ?
सरदी धूप में किस के कपड़े सुखाती है ?
गरमी बौरायी दीवारों से
टकरा-टकरा कर क्या गाती है ?
क्या किसी ने यहाँ प्यार की बातें की थीं ?

मैं तो अजनबी हूँ
पहली बार शायद यहाँ आया हूँ,
मैं तो इस घर को पहचानता तक नहीं,
सच मानो जानता तक नहीं—
लेकिन लगता है जैसे
कभी कुछ हुआ था।
अच्छा अब जाता हूँ—
कम्बख़्त आँखें भर आती हैं।
यद्यपि जानता हूँ
यह गहरा धुआँ था।

•

मैंने कब कहा

मैंने कब कहा कि मेरा धर्म है
मर्म सहला कर व्यथा सुला देना,
मैंने कब कहा कि मेरा कर्म है
पिचके गुब्बारों को गैस भर फुला देना ?
यह तो वे करते हैं
जो असत्य के चश्मे
आँख पर चढ़ा कर बस हरा-हरा देखते हैं,
यह तो वे करते हैं
जो सुखी बालू पर
प्यासे बवण्डरों-सा मृगजल लेखते हैं।

मैं नया कवि हूँ—
इसी से जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है,
मैं नया कवि हूँ—

इसी से मानता हूँ
चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है,
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ
झूठी मुसकाने नहीं बेंचता।

सत्य कहता हूँ
चाहे मर्म झकझोर उठे
आँखें छलछला आयें
क्योंकि आहत दुर्बलता भी
एक बार दर्प से शीश उठा देती है,
मुट्ठियाँ भींच कर
सूखी शिराएँ तानती है,
वज्र से भी टूटी पसलियाँ अड़ा देती है।

यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाय,
व्यथा अन्तर्दृष्टि दे,
खण्डित आत्माएँ
संचित कर सकें शक्ति की समिधाएँ,
जो जल कर अग्नि को भी
गन्ध ज्वार बना दें,
तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।

यह तो परछाईं है

यह तो परछाईं है
परछाईं है
परछाईं है।

यह नहीं बोलेगी,
तू इस को बुलाता है क्या ?
कुछ सुनेगी नहीं यह
दर्द सुनाता है क्या ?
राह पर जब तक उजाला है चली जायेगी,
पर अँधेरे में नहीं हाथ तेरे आयेगी,
फिर तो अपनी ही निगाहों से मिला
अपनी निगाह,
पार करनी पड़ेगी तुझ को यह
अँधियारी राह ।
बोलना चाहता है, अपनी ही पगध्वनि से बोल,
दर्द की गाँठ, तू अपने ही छालों पर खोल,
अपनी उखड़ी हुई साँसों पे ही रूमाल हिला,
अपने थकते हुए क़दमों से ही तू हाथ मिला,
राह तेरी तभी कटेगी
अभागे इनसान,
एक बुझते दिये से
दूसरा जला अरमान,
कोई उम्मीद न कर राह की तस्वीरों से
यह तो परछाईं है
परछाईं है
परछाईं हैं ।

यह नहीं बोलेगी, तू इस को बुलाता है क्या ?
कुछ सुनेगी नहीं यह, दर्द सुनाता है क्या ?
आगे चलना है तुझे, अपने सहारे पर चल,
इस का तू हाथ पकड़, राह पर जाता है क्या ?
यह तो परछाईं है
परछाईं है
परछाईं है ।

सूखे पीले पत्तों ने कहा

तेज़ी से जाती हुई कार के पीछे
पथ पर गिरे पड़े
निर्जीव सूखे पीले पत्तों ने भी
कुछ दूर दौड़ कर गर्व से कहा—
'हम में भी गति है,
सुनो, हम में भी जीवन है,
रुको-रुको, हम भी
साथ चलते हैं
हम भी प्रगतिशील हैं।'
लेकिन उन से कौन कहे—
प्रगति, पिछलग्गूपन नहीं है
और जीवन, आगे बढ़ने के लिए
दूसरों का मुँह नहीं ताकता !

चुपाई मारौ दुलहिन

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ !

दे रोटी ?
कहाँ गयी थी बड़े सवेरे
कर चोटी ?

लाला के बाज़ार में
मिली दुअन्नी
पर वह भी निकली खोटी,
दिन-भर सोयी,
बीच बाज़ार में बैठ के रोयी,
साँझ को लौटी
ले खाली झौआ।
चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ!

दे धोती?
दिन-भर चरखा कात
साँझ को क्यों रोती?
सूत बेच कर
पी आये घर में ताड़ी,
छीन लँगोटी
काटी बोटी-बोटी,
क़िस्मत ही निकली खोटी,
ऊपर नेग माँगते हैं
ये बाम्हन-नौआ।
चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ!

दे छानी?
सुना कि तू ने की
सरकारी मेहमानी?
खूब कहा?
बाढ़ में सब घर-बार बहा,
आध-आध गज़ कपड़ा पाया,

और सेर-भर आटा,
तीन-चार दिन किसी तरह
घर-भर ने मिल कर काटा;
दाने-दाने को मोहताज
घूम रहे हैं बेघर आज,
तीन रुपये इमदाद मिली है
ऊपर तीस बुलौआ।
चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ!

दे पैसा?
थी बीमार?
अरे यह रूप हुआ कैसा!
मेले में दूकान की
माचिस-बीड़ी-पान की
कुछ तो खा गये हाकिम-उमरा,
कुछ खा गये सिपाही,
बाक़ी बचा टैक्स भर आयी
ऐसी हुई तबाही,
ब्याह की हँसुली गिरौ धरी है
थी बस एक चढ़ौआ।
चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ!

दे गीता?
लगे कोर्स में
ऐसा क्या हो गया सुभीता?
हाथ में थैली
और पैर पर टोपी धर

फैलाते हैं सब अपना गोरखधन्धा,
आँख खोलने वाले को कहते अन्धा,
मैं भी दौड़ी
पास न थी पर कानी कौड़ी
मुँह लटकाये मिले राह में
मुझे किशन-बलदेउआ।
चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ !

दे आज़ादी ?
किस के बल पर दुखिनी
कहलाती शहज़ादी ?
गान्धीजी के चेला के;
पड़ा अकाल, नहीं तो
पूछे जाते नहीं अधेला के,
बोली मारैं
बात-बात में
गोली मारैं
शोर मचाता घूमै
बच्चे ज्यों लूटें कनकौआ।
चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ !

दे मौत ?
अरे बुलाता है क्या कोई
घर में सौत ?
मरद गँड़ासा ले कर हो
गर रोज़ खड़ा
चकला घूमै

सुनै न औरत का दुखड़ा
जब-जब पान-सुपारी दे
तब-तब मुँह पर गारी दे,
इस से अच्छा
रचा बरिच्छा
डूब मरै गंगाजी में, कह
आया राम-बुलौआ।

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौआ !

सुबह से शाम तक

सुबह हुई—
धरती के सुनहरे चिकने फ़र्श पर,
हरी मटर का गोल बड़ा दाना लुढ़कने लगा;
और उस के पीछे-पीछे, भूरे पंख फड़फड़ाता,
गौरैय्ये का एक बच्चा,
अपनी नन्हीं-सी सुर्ख़ चोंच खोल कर,
उसे बार-बार पकड़ने का असफल प्रयास करता फुदकने लगा।

साँझ हुई—
दूर—आकाश के पीले रेगिस्तानी टीलों पर,
भूखे शिथिल ऊँट,
सुर्ख़ क्षितिज की ओर ऊपर सिर उठाये,
पीठ पर चारा लादे,
किसी ओझल पड़ाव की ओर थके माँदे,
काले प्रश्न-चिह्नों से रेंगने लगे।
सुबह से शाम तक में—

निज का प्रयत्न परवशता में बदल गया,
पेट इतना बढ़ गया
कि उस की ही चिन्ता में—
सामने का चारा पीठ पर लादना पड़ा,
आप इसे प्रगति कहें
मेरे लिए
स्वावलम्बी गौरैय्ये का बच्चा ऊँट हो गया।

सौन्दर्य-बोध

अपने इस गटापारची बबुए के
पैरों में शहतीरें बाँध कर
चौराहे पर खड़ा कर दो,
फिर, चुपचाप ढोल बजाते जाओ,
शायद पेट पल जाय :
दुनिया विवशता नहीं
कुतूहल ख़रीदती है।

भूखी बिल्ली की तरह
अपनी गरदन में सँकरी हाँड़ी फँसा कर
हाथ-पैर पटको,
दीवारों से टकराओ,
महज़ छटपटाते जाओ,
शायद दया मिल जाय :
दुनिया आँसू पसन्द करती है
मगर शोख़ चेहरों के।
अपनी हर मृत्यु को
हरी-भरी क्यारियों में

मरी हुई तितलियों-सा
पंख रँग कर छोड़ दो,
शायद संवेदना मिल जाय :
दुनिया हाथों-हाथ उठा सकती है
मगर इस आश्वासन पर
कि रूमाल के हल्के से स्पर्श के बाद
हथेली पर एक भी धब्बा नहीं रह जायगा।

आज की दुनिया में
विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती हैं।
बिना आकर्षण के दूकानें टूट जाती हैं।
शायद कल उन की समाधियाँ नहीं बनेंगी
जो मरने के पूर्व
कफ़न और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे।
ओछी नहीं है दुनिया :
मैं फिर कहता हूँ,
महज़ उस का
सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है।

कलाकार और सिपाही

वे तो पागल थे
जो सत्य, शिव, सुन्दर की खोज में
अपने-अपने सपने लिये,

नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में
फटे-हाल, भूखे-प्यासे,
टकराते फिरते थे,
अपने से जूझते थे,
आत्मा की आज्ञा पर
मानवता के लिए
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काट कर
मूर्तियाँ, मन्दिर और गुफाएँ बनाते थे।
किन्तु ऐ दोस्त !
इन को मैं क्या कहूँ,
जो मौत की खोज में
अपनी-अपनी बन्दूक़ें, मशीनगनें लिये हुए,
नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में
फटे-हाल, भूखे-प्यासे,
टकराते फिरते हैं,
दूसरों की आज्ञा पर
चन्द पैसों के वास्ते,
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काट कर
रसद, हथियार, एम्बुलेंस, मुर्दागाड़ियों के लिए
सड़कें बनाते हैं !

वे तो पागल थे
पर इन को मैं क्या कहूँ ?

रात-भर

रात-भर
हवा चलती रही।

मन मेरा
स्मृति के कब्ज़े पर
कसे हुए खिड़की के पल्ले-सा
खुलता, बन्द होता रहा—
छड़ और दीवार के बीच
सर पटकता, रोता रहा।
खूंटी पर लटका
एक चित्र हिलता रहा :
सेज पर कोई
चादर तान सोता रहा!

अहं से मेरे बड़ी हो तुम

अहं से मेरे बड़ी हो तुम !
क्यों कि मेरी शक्तियों की—
हर पराजय-जीत की
अन्तिम कड़ी हो तुम।
जहाँ रुक कर
फिर नयी मैं टेक गढ़ता हूँ,
भूमि पैरों के तले मेरे न हो फिर भी
हर नये संघर्ष के विष-शृंग चढ़ता हूँ,
क्योंकि अन्तर में
अतल गहरे
आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र थामे
नित खड़ी हो तुम।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम !
प्रिय इसी से तुम्हारे सम्मुख
मौलश्री की डाल यह मैंने झुका दी है,

और बौने प्यार के कर में
अहं की जयमाल ला दी है,
क्योंकि मैं
उखड़ कर जिस जगह से गिर पड़ा
वहीं पर दृढ हो गड़ी हो तुम।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम!
एक पत्थर की घड़ी हो तुम,
कि जिस पर छाँह चलती है
जड़े मेरे अहं की,
बाँधने को विकल
एक टूटा घूमता असहाय हाथ,
काल की बेलौस छाती पर
प्यार का असफल प्रयास,
किन्तु इस पर भी अहं मेरा
तुम्हारा शृंगार है
और मेरे हर विकल विद्रोह के सिर पर
मौन कलगी-सी जड़ी हो तुम।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम!

प्लेटफ़ॉर्म

सीटी हुई,
कुछ देर इंजन
खड़ा सूँ-सूँ करता रहा,
अन्त में आवाज़ क्रमशः बढ़ती गयी
एक झटके के साथ गाड़ी चली—
बहुत देर तक
तेज़ होते हुए इंजन की आवाज़

आती रही····आती रही···आती रही
और फिर, धीरे-धीरे,
घटती हुई··खो गयी।
प्रगति का इतना ही
इतिहास मैं जानता हूँ।
क्योंकि हर बार अन्त में
मैं—महज़ मैं—
एक सूना प्लेटफ़ॉर्म
निर्जन ख़ामोश पड़ा रह गया हूँ,
यही कहने के लिए—
कि एक ट्रेन आयी थी,
रुकी थी,
चली गयी;
शायद फिर आयेगी,
रुकेगी,
चली जायेगी;
क्रम यह लगा रहा है,
क्रम यह लगा रहेगा,
लेकिन हर क्षण स्वागत,
हर दूसरे क्षण प्रतीक्षा ने
कुछ मुझ को ऐसा कर दिया है
कि लगता है
मैं ही गतिवान हूँ,
गाड़ियाँ जड़ और बेलौस खड़ी हुई हैं,
मैं ही महज़
आता हूँ··जाता हूँ··आता हूँ····जाता हूँ—
मैं··मैं, सूना प्लेटफ़ॉर्म।

दरवाज़ों की पलकें आधी मुँद गयी हैं,
पटरियाँ लम्बी शहतीर-सी पसरी हैं,

पुल जाने कब से औंधा पड़ा हुआ है,
बोझा लादने की दो पहिये वाली गाड़ी तक
अपनी पीठ खोल कोने में दुबक गयी है,
दोनों भुजाएँ फैलाये
लकवे के मरीज़-सी
ख़ाली बेंचें कितनी गहरी नींद में हैं,
रोशनी तक
आँखें खोल कर सो रही है,
लेकिन मुझे जागना है,
क्योंकि आधी रात को
कोई माल गाड़ी
नींद में झूमती, हचकोले खाती
शायद आ कर ठहर जाय,
सोते हुए उस के अनगिन डिब्बों में से
शायद कोई खुले
शायद कुछ ऐसा मिले
जिसे कल सुबह होने पर
दूसरों को देना हो।

मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में
एक बात सीखी थी :
कि हिमालय-सा भी अनन्त बोझ
अपनी पसलियों पर लाद कर
निश्चिन्त सो सकूँ—
किन्तु जाने क्यों
आज एक छोटे-से पीले बेज़बान काग़ज़ ने
जो कहीं से
मेरी पसलियों पर आ गिरा था
मेरा दम घोट दिया।
क्योंकि वह
इस बात का गवाह था
कि मैं भी बिका हूँ,

मेरी भी एक क़ीमत है,
जिसे चुकाये बिना
कोई मेरा नहीं हो सका,
और जिसे चुका कर
हर एक ने यह समझा
कि कुछ क्षणों के लिए
उसने मुझे ख़रीद लिया है।
कैसी विडम्बना है—
कि वे जो गतिशील हैं
उन के विश्राम-क्षणों का भी मूल्य
मेरी जड आत्मा के नाम पर लगता है।

ले जाओ—
लजाती शरमाती
सजी हुई वधुओं को,
किलकते उछलते
फूलों-से बच्चों को,
सीटियाँ बजाते
झूम कर चलते युवकों को
मेरी पलकों पर से
ले जाओ—
शायद घिरती आँसुओं की बूँदें टूट जायें।
ले जाओ—
अन्न की भारी-भारी बोरियों को,
कपड़ों की कसी हुई
बेडौल गाँठों को,
पुस्तकों के
नरम लकड़ी वाले बक्सों को
मेरी पसलियों पर से
ले जाओ—
शायद दिल की ये धड़कनें कम हो जायें।
ले जाओ यन्त्रों को, मशीनों को

खोये वैज्ञानिकों को,
कवियों को, दार्शनिकों को,
थके राजनीतिज्ञों को,
निश्छल सरल सन्तों को,
मेरे अंग-प्रत्यंग पर से,
ले जाओ—
शायद खिंचती रगों का दर्द कम हो जाये।

क्योंकि कल
यदि मैं ने सुना
कहीं मेरे आस-पास
सुख है, शान्ति है,
सृजन है, निर्माण है,
प्रगति है, विकास है,
तब मैं अपनी
इस निरर्थक आत्मा को भी
एक अर्थ दे लूँगा।
अनुभव करूँगा
इस सब के साथ
कहीं मैं भी बँधा था,
कहीं मेरा भी योग था।

यों ही बस यों ही

जब क़लम उठाता हूँ
कोरे काग़ज़ पर
लम्बी चोंचवाली एक चिड़िया
बैठी पाता हूँ।

चोंच वह खोलती नहीं,
फुदकती बोलती नहीं,
हिलती है न डुलती है,
चुपचाप घुलती है,
बताती न नाम है,
करती न काम है,
फिर भी सुबह को
बना देती शाम है।

यों ही—बस यों ही—
दिन डूब जाता है
मन ऊब जाता है।
रात घिर आती है
बात फिर जाती है।

शुक्रिया—
ओ प्रकाश !
शुक्रिया—
ओ क़लम-थमे हाथ की परछाईं
शुक्रिया—
ओ प्यारी
हत्यारी
चिड़िया
शुक्रिया, शुक्रिया···
तुम सब को
मेरा प्रणाम है।

डा. डिल्ली रमण शर्मा
कल्याणी देवी स्मारक
पुस्तकालय

काठ की घण्टियाँ

बजो !
ओ काठ की घण्टियो,
बजो !
मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मन्दिर की,
सजो
ओ काठ की घण्टियो,
सजो !

शायद कल
टूटी बैसाखी पर चल कर
फिर मेरा खोया प्यार
वापस लौट आये,
शायद कल
प्रकाश-स्तम्भों से टकरा कर
फिर मेरी अन्धी आस्था
कोई गीत गाये,
शायद कल
किसी के कन्धों पर चढ़ कर
फिर मेरा बौना अहं
विवश हाथ फैलाये।

जितनी भी ध्वनि शेष है
इन सूखी रगों में
तजो
ओ काठ की घण्टियो,
तजो !

शायद कल
मेरी आत्मा का निष्प्राण देवता
अपने चक्षु खोल दे,
शायद कल
हर गली अपना घुटता धुआँ
मेरी ओर रोल दे;
शायद कल
मेरे गूंगे स्वरों के सहारे
कोटि-कोटि कण्ठों की खोयी शक्ति बोल दे।
दर्द जितना भी
ऐंठ रहा हो, समेट कर
मँजो,
ओ काठ की घण्टियो,
मँजो।

बजो
ओ काठ की घण्टियो,
बजो।
मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मन्दिर की,
सजो,
ओ काठ की घण्टियो,
सजो!

बजो,
ओ काठ की घण्टियो,
बजो!

■■■

८९१.४३१९
ग६२८न

माँगती है। इस 'एड्वेंचर ऑव आइडियाज़' में कवि और पाठक-वर्ग सहभागी होता रहे—यही 'सप्तकों' का उद्देश्य है, और इसी दृष्टि से उन का सम्पादन होता रहा है। समकालीन समीक्षा में उन की चर्चा इसका प्रमाण है कि उन्होंने काव्य-चिन्तन को कितनी प्रेरणा दी है।

जिन्हें पिछले पन्द्रह वर्षों की हिन्दी कविता की प्रगति में रुचि है, उन के लिए तो यह संकलन अद्वितीय महत्त्व रखेगा ही; पर जो समकालीन कविता के आन्तरिक कर्ष-अपकर्ष से उदासीन रह कर शुद्ध काव्यानन्द के लिए ही कविता पढ़ना चाहते हैं उन्हें भी इस में यथेष्ट प्रीतिकर सामग्री मिलेगी। अलग-अलग कवियों के वक्तव्य उन के विचारों और विश्वासों का निरूपण कर के पाठक को अवसर देते हैं कि उन्हें भी कसौटी पर रखे और इस प्रकार रुचि-संस्कार में, और विवेचन का स्तर ऊँचा करने में, योग दे।

संकलनकी उपयोगिता तो इसी से प्रमाणित है कि इतने कम समय में प्रस्तुत है यह तीसरा संस्करण।

■ ■

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

संस्थापक

साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५